मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 42 ● वर्ष 5 ● अंक 4 ● जून 2015 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

सावधान, सरकार आपके हर फ़ोन, मैसेज, ईमेल, नेट ब्राउज़िंग की जासूसी कर रही है! 7

अमीरज़ादों के लिए स्मार्ट सिटी, मेहनतकशों के लिए गन्दी बस्तियाँ 8

इण्डोनेशिया में 10 लाख कम्युनिस्टों के क़त्लेआम के पचास वर्ष 9

"सामाजिक न्याय" के अलमबरदारों का अवसरवादी गँठजोड़ फासीवादी राजनीति का कोई विकल्प नहीं दे सकता

असल लड़ाई क्रान्तिकारी विकल्प खड़ा करने की है, चाहे वह जितनी लम्बी और कठिन हो!

सम्पादक मण्डल

अगले कुछ महीनों में बिहार में होने वाले विधानसभा चुनाव से पहले नीतीश कुमार की जनता दल (यू), लालू प्रसाद यादव के राष्ट्रीय जनता दल और मुलायम सिंह यादव की समाजवादी पार्टी का गठबन्धन बनने से पहले ही बिखरते-बिखरते किसी तरह बच गया लेकिन तीनों पार्टियों के विलय और जनता परिवार के एक हो जाने की बातें हवा में ही रह गयीं। इनका गठबन्धन भी मजबूरी में बचा है क्योंकि नीतीश और लालू दोनों जानते हैं कि अकेले चुनाव लड़ने पर दोनों की हालत पतली रहेगी। मुलायम सिंह को दो साल बाद उत्तर प्रदेश में होने वाले चुनाव की चिन्ता सता रही है।

पिछले साल जब जनता पार्टी से छिटके कई दलों के नेता भाजपा के विरुद्ध गठबन्धन बनाने के मकसद से दिल्ली में जुटे थे तभी से इतना तो तय था कि बुनियादी तौर पर एक ही नस्ल का होने के बावजूद अलग-अलग रंगों वाले ये परिन्दे बहुत लम्बे समय तक साथ-साथ नहीं उड़ सकते। फिलहाल अस्तित्व का संकट उन्हें एक साथ आने के लिए भले ही प्रेरित कर रहा हो, लेकिन इनकी एकता बन पाना मुश्किल है। इन छोटे बुर्जुआ दलों की नियति है कि ये केन्द्र में कांग्रेसनीत या भाजपानीत गठबन्धनों के पुछल्ले बनकर सत्ता-सुख में थोड़ा हिस्सा पाते रहें और कुछ अलग-अलग राज्यों में जोड़-तोड़ कर सरकारें चलाते रहें। पुरानी जनता पार्टी फिर से बन नहीं सकती और बन भी जाये तो बहुत दिनों तक बनी नहीं रह सकती। काठ की हाँड़ी सिर्फ़ एक ही बार चढ़ सकती है। सबसे बड़ी बात यह कि नवउदारवादी नीतियों पर आम सहमति के साझीदार ये सभी दल भी हैं और इनका साम्प्रदायिकता-विरोध चुनावी शतरंज की बिसात पर चली गयी महज़ एक चाल से अधिक कुछ भी नहीं है।

अलग-अलग राज्यों में अपने क्षेत्रीय (और जातिगत) जनाधार वाली ये पार्टियाँ उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों तथा साम्प्रदायिकता की राजनीति के विरोध के दावे चाहे जितनी ऊँची आवाज़ में करें, सच्चाई यह है कि तमाम छुटभय्ये राजनीतिक दलों की तरह इन घोर अवसरवादी दलों के सामने हिन्दुत्ववादी फासीवादी मोदी लहर के समक्ष टिकने और अपना अस्तित्व बचाने का संकट है। सत्तासीन रहते हुए लालू यादव, नीतीश कुमार, चौटाला, मुलायम सिंह और देवगौड़ा को उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों से रंचमात्र परहेज नहीं रहा है। नीतीश कुमार और चौटाला आज जिस भाजपा की साम्प्रदायिक राजनीति का विरोध कर रहे हैं, उसी के साथ गठबन्धन करके लम्बे समय तक सरकार चला चुके हैं। पिछड़ों की राजनीति इनमें से अधिकांश पार्टियों की क्षेत्रीय राजनीति का आधार रहा है। मुख्यत: इनका सामाजिक आधार धनी और मध्यम मालिक किसानों में रहा है और बुर्जुआ संसदीय राजनीति में बड़े पूँजीपति वर्ग और उसकी नीतियों के प्रति वफ़ादारी निभाते हुए भी ये दल कुलकों के हितों को लेकर मोलतोल करने वाली दबाव-लॉबियों की भूमिका निभाते रहे हैं। लेकिन नवउदारवादी दौर में कुलक वर्ग औद्योगिक-वित्तीय पूँजीपति वर्ग के छोटे पार्टनर के रूप में काफ़ी हद

(पेज 6 पर जारी)

मोदी सरकार के अगले चार वर्षों के बारे में वैज्ञानिक तथ्य-विश्लेषण आधारित कुछ भविष्यवाणियाँ!

ये भविष्यवाणियाँ हमने मोदी सरकार के 6 महीने बीतने के बाद 'मज़दूर बिगुल' के दिसम्बर '14 अंक में प्रकाशित की थीं। इनमें से कितनी सही साबित हो चुकी हैं और कितनी सही साबित होने वाली हैं, इसे बताने के लिए किसी ईनाम की ज़रूरत नहीं है! – सं.

– कात्यायनी

आने वाले चार-पाँच वर्षों के दौरान :

– विदेशों में जमा काला धन का एक पाई भी नहीं आयेगा। देश के हर नागरिक के खाते में 15 लाख रुपये आना तो दूर, फूटी कौड़ी भी नहीं आयेगी।

– कुल काले धन का 80 फीसदी तो देश के भीतर है। उसमें भारी बढ़ोत्तरी होगी।

– विदेशों से आने वाली पूँजी अतिलाभ निचोड़ेगी और बहुत कम रोजगार पैदा करेगी। निजीकरण की अंधाधुंध मुहिम में सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को हड़ताली देशी-विदेशी कम्पनियाँ जमकर छँटनी करेगी। पुराने उद्योगों में बड़े पैमाने पर तालाबन्दी होगी। नतीज़तन न केवल ब्लू कॉलर नौकरियों बल्कि व्हाइट कॉलर नौकरियों की भी अभूतपूर्व कमी हो जायेगी और इंजीनियरों, तकनीशियनों, क्लर्कों की नौकरियाँ भी मुहाल हो जायेंगी। बेरोजगारी की दर नयी ऊँचाइयों पर होंगी और छात्रों-युवाओं के आन्दोलन बड़े पैमाने पर फूट पड़ेंगे।

– मोदी के "श्रम सुधारों" के परिणामस्वरूप मज़दूरों के रहे-सहे अधिकार भी छिन जायेंगे, असंगठित मज़दूरों के अनुपात में और अधिक बढ़ोत्तरी हो जायेगी, बारह-चौदह घण्टे सपरिवार खटने के बावजूद मज़दूर परिवारों का जीना मुहाल हो जायेगा। नतीजतन औद्योगिक क्षेत्रों में व्यापक स्तर पर मज़दूर असन्तोष उग्र संघर्षों के रूप में फूट पड़ेंगे। दलाल और सौदेबाज यूनियनें अप्रासंगिक हो जायेंगी। इन स्वत:स्फूर्त मज़दूर उभारों की क्रान्तिकारी वाम की कोई धारा यदि सही राजनीतिक लाइन से लैस हो, तो सही दिशा में आगे बढ़ा सकती है।

– जल, जंगल, ज़मीन, खदान – सब कुछ पहले से कई गुना अधिक बड़े पैमाने पर देशी-विदेशी कारपोरेट मगरमच्छों को सौंपे जायेंगे, लोगों को बन्दूक़ की नोक पर विस्थापित किया जायेगा और उसके हर प्रतिरोध को बर्बरतापूर्वक कुचलने की कोशिश की जायेगी। नया भूमि अधिग्रहण क़ानून लागू होने के बाद किसानों को उनकी जगह-ज़मीन से बलात बेदखल करना एकदम आसान हो जायेगा। खेती में तेजी से बढ़ती देशी-विदेशी पूँजी की पैठ छोटे किसानों के सर्वहाराकरण और विस्थापन में अभूतपूर्व तेजी ला देगी। शहरों में प्रवासी मज़दूरों और बेरोजगारों का हुजूम उमड़ पड़ेगा।

– विश्वव्यापी मंदी और आर्थिक संकट की जिस नयी प्रचण्ड लहर की भविष्यवाणी दुनिया भर के अर्थशास्त्री कर रहे हैं, वह तीन-चार वर्षों के भीतर भारतीय अर्थतंत्र को एक भीषण दुश्चक्रीय निराशा के भँवर में फँसाने वाली है। मँहगाई और बेरोजगारी तब विकराल हो जायेगी। व्यवस्था का क्रान्तिकारी संकट अपने घनीभूततम और विस्फोटक रूप में सामने होगा।

– उग्र जनउभारों को कुचलने के लिए सत्ता पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों का खुलकर इस्तेमाल करेगी। भविष्य के "अनिष्ट संकेतों" को भाँपकर मोदी सरकार अभी से पुलिस तंत्र, अर्द्धसैनिक बलों और गुप्तचर तंत्र को चाक-चौबन्द बनाने पर सबसे अधिक बल दे रही है। घनीभूत संकट के दौरान शासक वर्गों की राजनीतिक एकजुटता भी छिन्न-भिन्न होने लगी और बढ़ती अराजकता भारतीय राज्य को एक "विफल राज्य" जैसी स्थिति में भी पहुँचा सकती है। जन-संघर्षों और विद्रोहों को कुचलने के लिए सन्नद्ध दमन तंत्र भारतीय राज्य को एक 'पुलिस स्टेट' जैसा बना देगा।

– मोदी के अच्छे दिनों के वायदे का बैलून जैसे-जैसे पिचककर नीचे उतरता जायेगा, वैसे-वैसे हिन्दुत्व की राजनीति और साम्प्रदायिक तनाव एवं दंगों का उन्मादी खेल जोर पकड़ता जायेगा ताकि जन एकजुटता तोड़ी जा सके। अंधराष्ट्रवादी जुनून पैदा करने पर भी पूरा जोर होगा। पाकिस्तान के साथ सीमित या व्यापक सीमा संघर्ष भी हो सकता है क्योंकि जनाक्रोश से आतंकित दोनों ही देशों के संकटग्रस्त शासक वर्गों को इससे राहत

(पेज 8 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

हमें आज़ाद होना है तो मज़दूरों का राज लाना होगा।

मेरा नाम किशन है और मैं बिहार औरंगाबाद का रहने वाला हूँ। बचपन से ही मैं ग़रीबी में पला-बड़ा हुआ हूँ। घर पर हमेशा ही पैसे की किल्लत बनी रहती थी। घर का ख़र्च कम हो सके इसलिए बचपन में ही मेरे फूफा मुझे अपने घर ले गये। यहीं मैंने थोड़ा-बहुत पढ़ना सिखा, मैं नौवीं कक्षा तक पहुँच गया। परन्तु यहाँ मेरा दिल नहीं लगता था क्योंकि फूफा मेरे और अपने बच्चों के बीच फ़र्क़ करते थे। मुझे खाने को भी औरों से अलग दिया जाता था पर घर का काम तो ख़ूब लिया जाता था। यहीं मेरे मन में घर से बाहर निकलने का विचार पलने लगा। मेरा भाई दिल्ली में मज़दूरी कर कमा रहा था और सुना था कि शहर की बात ही कुछ और है, मैंने भी मन ही मन मज़दूरी कर अपने पैरों पर खड़ा होने की बात सोची और फूफा का घर छोड़ अपने माँ-बाप के पास आ गया। उस समय मेरी उम्र 13 साल थी और उसी साल मैं ज़िद करके दिल्ली जाने वाली गाड़ी - महाबोधी एक्सप्रेस पकड़कर दिल्ली के लिए रवाना हो गया। मेरा भाई दिल्ली में शकुरपुर में काम कर रहा था और मैंने भी यही सोचा कि अब मेहनत करूँगा और अपनी मर्जी से रहूँगा। ट्रेन से उतरकर मैं सुस्ताने के लिए प्लेटफ़ार्म पर बैठा ही था कि एक आदमी मुझसे पूछने लगा कि मैं कहाँ जाऊँगा और मेरे जवाब देने पर उसने बताया कि वह मुझे यहीं पास में ही काम पर लगवा देगा। उसके साथ 3 और लोग थे। मैं उस पर विश्वास कर उसके साथ चल दिया, सोचा कमाना ही तो है चाहे वज़ीरपुर या यहाँ और लगा कि जो बात गाँव में सुनी थी वह सही है कि शहर में काम ही काम है। ये आदमी मुझे एक बड़ी बिल्डिंग में पाँचवीं मंज़िल की एक फ़ैक्टरी में ले गया और बोला कि यहाँ जी लगाकर काम करो और महीने के अन्त में मालिक से पैसे ले लेना। फ़ैक्टरी में ताँबे के तार बेले जाते थे। फ़ैक्टरी के अन्दर मेरी उम्र के ही बच्चे काम कर रहे थे। सुपरवाइज़र दिन में जमकर काम करवाता था और होटल का खाना खाने को मिलता था। फ़ैक्टरी से बाहर जाना मना था। एक महीना गुज़र गया पर मालिक ने पैसा नहीं दिया। महीना पूरा होने के 10 दिन बाद मैं मालिक के दफ़्तर पैसे माँगने लगा तो उसने कहा कि मुझे तो वह ख़रीद चुका है और मुझे यहाँ ऐसे ही काम करना होगा। यह बात सुनकर मैं घबरा गया। मैं फ़ैक्टरी में गुलामी करने को मजबूर था। मैंने जब और लड़कों से बात की तो पता चला कि वे सब भी बिके हुए थे और मालिक की गुलामी करने को मजबूर हैं। 5-6 महीने मैं गुलामों की तरह काम करता रहा। पर मैं किसी भी तरह आज़ाद होना चाहता था। मैं भागने के उपाय सोचने लगा। पर दिनभर सुपरवाइज़र बन्द फ़ैक्टरी में पहरा देता था। रात को ताला बन्द कर वह सोने चला जाता था। कमरे में दरवाज़े के अलावा एक रोशनदान भी था जिस पर ताँबे के तार बँधे थे। रात को जब सभी लड़के सो गये मैंने रोशनदान का तार खोला और उस खिड़की से बाहर निकल गया। खिड़की खुली छत की ओर मुँह खोलती थी। पर नीचे उतरने का दरवाज़ा बन्द था और पाँच मंज़िला बिल्डिंग से छलाँग लगाना भी मुमकीन नहीं था। मैं वापस आकर सो गया। अगले दिन फ़ैक्टरी में काम किया और बाहर निकलने का उपाय सोचता रहा। रात को मैं उठा और ताँबे के तार को रस्सी की तरह गुँथना शुरू कर दिया। रात को 11 बजे से 1 बजे तक मैं तार को गुँथता रहा। इस तार को मैंने मशीन से बाँध दिया और सामने वाले दरवाज़े से तार बाहर निकाल दिया। खिड़की से निकलकर मैं तार के सहारे नीचे उतरा पर ताँबे के तार पर हाथ फिसल गये और मैं नीचे गिर गया। मेरे शरीर से ख़ून बह रहा था पर मैं आज़ाद होने के कारण ख़ुश था। पास में ही ट्रेन की आवाज़ आ रही थी यानी आसपास ही प्लेटफ़ार्म था। 6 महीने बाद मैंने दुनिया देखी थी और मुझे डर था कि मैं कहीं यह खो न दूँ, इसलिए मैं दर्द के बावजूद नयी दिल्ली रेलवे स्टेशन पहुँच गया पर मैं वहाँ नहीं रुका बल्कि पटरी पकड़कर मैं दूसरे स्टेशन पैदल ही चला गया कि मैं पकड़ा न जाऊँ। अगले स्टेशन से मैंने पहले गोरखपुर की गाड़ी पकड़ी और लोगों से पूछते हुए वापस बिहार पहुँच गया। पर गाँव पहले जैसा ही था और मेरी शहर जाने की फिर से इच्छा होने लगी। एक महीने बाद मैं फिर से दिल्ली की ट्रैन में बैठ गया। इस बार मैं सतर्क था और भाई के पास शकुरपुर पहुँच गया। भाई ने मुझे चप्पल फ़ैक्टरी में हेल्पर के काम पर लगवा दिया। 1 महीने में ही मैं काम सीख गया और 8 घण्टे के 6500 रुपये कमाने लगा। एक बात ग़ौर करने लायक थी कि चप्पल फ़ैक्टरी के 8 घण्टे और ताँबे फ़ैक्टरी के 6 महीने में ज़्यादा अन्तर नहीं था। गुलामी तो अभी भी थी, बस 8 घण्टे में बँधी हुई थी और उसके बदले मालिक हमें 6500 रुपये दे रहा था। मैं इस पैसे का अधिकतर हिस्सा अपने भाई को दे देता था जो पैसे गाँव भेज देता था। वह मुझसे कम ही पैसा घर भेजता था और इस वजह से मुझसे जलता था और इसी कारण करीब 3 साल पहले होली के दिन उसने मुझ पर चोरी का झुठा इलजाम लगा दिया। मैंने उसे पैसे दिये और उससे अलग आकर वज़ीरपुर रहने लगा। क्योंकि आदमी कहीं भी मेहनत कर कमा सकता है। वज़ीरपुर में मैं स्टील लाइन में काम करने लगा। मैंने यहाँ प्रेस का काम किया और पिछले साल तक बिडींग का काम सीख लिया। पिछले साल यानी 2014 में वज़ीरपुर की हड़ताल हुई। इस हड़ताल में मैंने भी भगीदारी की, यह वज़ीरपुर के हर मज़दूर की हड़ताल थी। इस हड़ताल से मालिक अभी थरथराते हैं। मुझे हड़ताल के बाद एक पर्चा मिला जिसमें यह बताया गया कि मालिक मज़दूर को लूटकर ही अमीर होते हैं और हमारी मेहनत का मोल हमें नहीं देते हैं। मालिक हमारा ख़ून चूसकर ही तिजोरी भरता है। मुझे यह बात अच्छी लगी और मैं पर्चे में लिखी राजा पार्क में हो रही सभा में पहुँच गया और मज़दूरों की यूनियन से जुड़ गया। राजा पार्क में ही मुझे मज़दूर बिगुल अख़बार मिला। कमरे पर आकर मैंने अख़बार पढ़ा तो सब समझ आने लगा। गुलामी आज भी कायम है, बस अभी पहले जैसे नहीं है। ताँबे की फ़ैक्टरी में गुलामी हो या वज़ीरपुर में 6500 रुपये में काम करना हो मालिक मुनाफ़े के लिए मज़दूर को खटाता है। मैंने तो यह समझ लिया है कि बिना मालिकों के राज को उखाड़े हम आज़ाद नहीं हो सकते हैं। हमें आज़ाद होना है तो मज़दूरों का राज लाना होगा। बस मैं भी अब मज़दूर अख़बार लेकर मज़दूरों के बीच जा रहा हूँ और आज़ादी की बात बता रहा हूँ। आप सब लोग भी जो बिगुल पढ़ते हैं और लोगों तक अख़बार को पहुँचाओ।

किशन, वज़ीरपुर, दिल्ली

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट

www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं।

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी- चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीआर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण: Mazdoor Bigul

खाता संख्या: 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200

पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता: (वार्षिक) 70 रुपये (डाकख़र्च सहित);

(आजीवन) 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं:

फोन: 0522-2786782, 8853093555, 9936650658,

ईमेल: bigulakhbar@gmail.com

फेसबुक: www.facebook.com/MazdoorBigul

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:

डाक से भेजने का पता : **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**

ईमेल से भेजने का पता : **bigulakhbar@gmail.com**

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 8853093555

दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928

ईमेल : bigulakhbar@gmail.com

मूल्य : एक प्रति – रु. 5/-
वार्षिक – रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित)
आजीवन सदस्यता - 2000/-

मुम्बई में 100 लोगों की मौत का ज़िम्मेदार कौन?

मुम्बई के मलाड़ पश्चिम के मालवानी इलाके में 17 जून की सुबह से लेकर 21 जून की शाम तक ज़हरीली शराब के कारण करीब 100 लोगों की जान चली गयी। घटना होने के बाद 3 लोगों को गिरफ्तार किया गया और 8 पुलिसकर्मियों को सस्पेंड किया गया, हालाँकि यहाँ चलने वाले अवैध ठेकों के बारे में पहले कई बार शिकायत की जा चुकी थी पर पुलिस की साँठगाँठ से इनका कारोबार जारी था। इस हादसे का शिकार लगभग सभी लोग मेहनत-मशक्कत करके गुज़र-बसर करने वाले हैं। पूरी बस्ती में मौत का सन्नाटा पसरा हुआ है।

क्या यह कोई पहला ऐसा मामला है जब ज़हरीली शराब पीने के कारण बड़ी संख्या में लोगों की जानें गयी हैं? रोज़-ब-रोज़ होने वाली मौतों को अगर छोड़ भी दिया जाये तो यह पहली ऐसी घटना नहीं है जब ज़हरीली शराब पीने से इतनी बड़ी संख्या में ग़रीबों की जान गयी है। मुम्बई के ही विक्रोली में 2004 में 100 से अधिक लोगों की, उत्तरप्रदेश में पहले सितंबर 2009 और फिर 2015 में जनवरी में कुल 70 से अधिक लोगों की इस तरह से मौत हुई, 2011 में पश्चिम बंगाल में लगभग 170, 2009 में गुजरात में 100 से अधिक लोगों की ज़हरीली शराब पीने से मौतें हुई। देश के हर राज्य में हर साल ज़हरीली शराब से ग़रीबों की मौतें होती हैं। हर बार घटना के बाद कुछ लोगों को गिरफ्तार किया जाता है, कुछ अफसरों का तबादला और निलम्बन होता है और थोड़े ही समय बाद घटना भुला दी जाती है, तथ्यों पर पर्दा डाल दिया जाता है और मौत का कारोबार बदस्तूर चलता रहता है।

सवाल यह उठता है कि आखिर इन तमाम बेगुनाहों की मौत का असली जिम्मेदार कौन है। क्या इन मौतों के लिए महज़ कुछ व्यक्ति ज़िम्मेदार होते हैं जिनको कि गिरफ़्तार कर लिया जाता है? क्या कुछ

अफसरों के निलम्बन या तबादले से इन घटनाओं पर अंकुश लग सकता है? इन घटनाओं की बारम्बारता चीख-चीख कर किस ओर संकेत कर रही है? सच्चाई यह है कि इन घटनाओं के लिए यह मानवद्रोही व्यवस्था जिम्मेदार है जिसमें ग़रीब मज़दूरों की जिन्दगी की कीमत बेहद सस्ती होती है, जहाँ मनुष्य को मुनाफा कमाने के लिए मशीन के एक पुर्ज़े से अधिक कुछ नहीं समझा जाता।

क्या प्रशासन को खतरनाक शराब बनाने वालों के बारे में पता नहीं होता है? झुग्गी बस्तियों में पुलिस की मोटरसाइकिलें व गाड़ियाँ रात-दिन चक्कर लगाती रहती हैं। ये पुलिसवाले यहाँ व्यवस्था बनाने के लिए चक्कर नहीं लगाते हैं बल्कि स्थानीय छोटे कारोबारियों और कारख़ानादारों के लिए गुण्डा फोर्स का काम करते हैं। सारे अपराध, सभी ग़ैर-कानूनी काम पुलिस की आँखों के सामने होते हैं और सभी काम पुलिसवालों, विधायकों आदि की जेबें गर्म करके उनकी सहमति के बाद ही होते हैं। शक की गुंजाइश के बिना यह कहा जा सकता है कि इस तरह की शराब बनाने के बारे में भी प्रशासन को पूरी जानकारी रहती है। शराब को और अधिक नशीला बनाने के लिए उसमें मेथानोल और यहाँ तक कि पेस्टीसाइड का भी इस्तेमाल होता है। चूंकि यह शराब लैबोरेटरी में टेस्ट करके नहीं बनती और इसकी गुणवत्ता के कोई मानक भी नहीं होते हैं तो ऐसे में ज़हरीले पदार्थों की मात्रा कम-ज़्यादा होती रहती है। इस शराब में अगर ज़हरीले पदार्थों की मात्रा कम भी रहे तो भी लम्बे समय तक सेवन से आँखें और गुर्दे ख़राब होने आदि का खतरा तो बना ही रहता है। जब ज़हरीले पदार्थों की मात्रा अधिक हो जाती है तो उसके परिणाम ऐसी घटनाओं के रूप में सामने आते हैं।

यह भी हमारे समाज की एक कड़वी सच्चाई है कि जब एक मज़दूर को दिन भर हाड़-तोड़ मेहनत करनी पड़ती है तो उसका साथ ही साथ उसका अमानवीकरण भी होता है और शराब व अन्य व्यसन उसके लिए शौक नहीं बल्कि ज़िन्दगी की भयंकर कठिनाइयों को भुलाने और दुखते शरीर को क्षणिक राहत देने के साधन बन जाते हैं। ऐसे मूर्खों की हमारे समाज में कमी नहीं है जो कहते हैं कि मज़दूरों की समस्याओं का कारण यह है कि वे बचत नहीं करते और सारी कमाई को व्यसनों में उड़ा देते हैं। असल में बात इसके बिल्कुल उलट होती है और वे व्यसन इसलिए करते हैं कि उनकी ज़िन्दगी में पहले ही असंख्य समस्याएँ है। जो लोग कहते हैं कि बचत न करना ग़रीबों-मजदूरों की सभी परेशानियों का कारण होता है उनसे पूछा जाना चाहिए कि 5000-8000 रुपये की कुल मासिक आय से कोई कितना बचा सकता है। क्या जो 1000-1500 रुपये वे व्यसन में उड़ा देते हैं उसकी बचत करने से वे सम्पन्नता का जीवन बिताने लगेंगे? यहाँ नशे की अनिवार्यता या फिर उन्हें प्रोत्साहन देने की बात नहीं की जा रही है बल्कि समाज की इस सच्चाई पर ध्यान दिलाया जा रहा है कि एक मानवद्रोही समाज में किस तरह से ग़रीबों के लिए नशा दुखों से क्षणिक राहत पाने का साधन बन जाता है। इस व्यवस्था में जहाँ हरेक वस्तु को माल बना दिया जाता है वहाँ ज़िन्दगी की मार झेल रहे ग़रीबों के नशे की ज़रूरत को भी माल बना दिया जाता है। ग़रीबों और मज़दूरों की बस्तियों में सस्ती शराब और दूसरे नशों का पूरा कारोबार इस ज़रूरत से मुनाफ़ा कमाने पर ही टिका है। इस मुनाफ़े की हवस का शिकार भी हमेशा ग़रीब मज़दूर ही बनते हैं। यह घटना कोई अनोखी नहीं है और मुनाफ़े के लिए की गयी हत्याओं के सिलसिले की ही एक और कड़ी है।

– विराट

एक ऐसे मज़दूर की कहानी जिसने अपने साहस के दम पर पहाड़ को भी झुकने को मजबूर कर दिया

आज जो कहानी मैं आपको सुनाने जा रहा हूँ वो एक सच्ची घटना पर आधारित है। यह कहानी है दशरथ माँझी की, जिन्होंने अपनी मेहनत और साहस के दम पर यह साबित कर दिया कि अगर आदमी में हिम्मत है तो वह किसी भी तरह की कठिनाई पर विजय पा सकता है। दशरथ माँझी का जन्म बिहार में स्थित गया ज़िले के एक छोटे से गाँव गहलौर में एक भूमिहीन मज़दूर परिवार में हुआ था। दशरथ माँझी का बचपन भयंकर ग़रीबी और तंगहाली में बिता, जिस कारण बहुत छोटी उम्र से ही उन्हें अपना और अपने परिवार का पेट पालने के लिए स्कूल जाने के बजाय काम करने को मजबूर होना पड़ा। जिस ज़मींदार के खेत में दशरथ काम करते थे वह पहाड़ के दूसरी ओर स्थित था, कोई सड़क न होने के कारण उन्हें हर दिन वहाँ पहुँचने के लिए कई किलोमीटर लम्बा रास्ता तय करना पड़ता था। एक दिन दशरथ की पत्नी एक दुर्घटना में बुरी तरह से घायल हो गयी, परन्तु उनके गाँव से अस्पताल लगभग 70 किलोमीटर दूर था और सड़क न होने के कारण वहाँ पहुँचने का रास्ता बहुत ही दुर्गम और कठिनाइयों भरा था। दशरथ माँझी ने अपनी पत्नी की जान बचाने के लिए उन्हें अस्पताल पहुँचाने की पूरी कोशिश की, परन्तु बीच रास्ते में ही उनकी मृत्यु हो गयी। उस दिन से दशरथ ने अपने मन में ठान लिया कि वह अपने गाँव से शहर के बीच सड़क बनाकर ही दम लेंगे, जिससे बाकी लोगों के साथ वो हादसा न हो जो

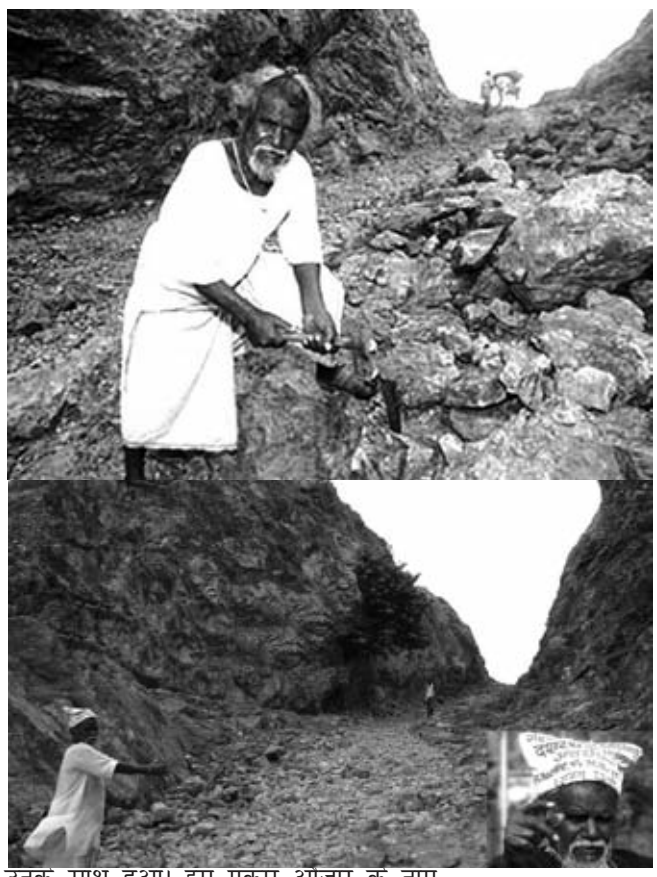

उनके साथ हुआ। इस प्रकार ओजार के नाम पर सिर्फ़ एक हथौड़े और दिल में कुछ कर गुज़रने का अरमान लिये उन्होंने पहाड़ को तोड़ सड़क बनाने का काम शुरू कर दिया। परन्तु जिस तरह हमेशा होता आया है कि जब भी कोई इन्सान कुछ नया करने के लिए क़दम बढ़ाता है तो लोग उसका मज़ाक़ उड़ाते हैं। इसी तरह जब दशरथ ने भी सड़क बनाने का कार्य शुरू किया तो उनके गाँव के लोगों ने उन्हें पागल कहकर उनका मज़ाक़ उड़ाया। परन्तु दशरथ इन तमाम बातों की परवाह न करते हुए दिन-रात अपने काम में जुटे रहे।

आख़िरकार उनकी 22 वर्षों की मेहनत रंग लायी और 1982 में दशरथ माँझी पहाड़ को तोड़ 360 फुट लम्बा और 30 फुट चौड़ा रास्ता बनाने में कामयाब हुए। उनकी लगन और मेहनत के चलते आज उनके गाँव से शहर की दूरी 70 किलोमीटर से घटकर केवल 15 किलोमीटर रह गयी है। लेकिन दशरथ माँझी यहीं नहीं रुके, बल्कि अपने गाँव में अस्पताल, स्कूल, तथा स्वच्छ पानी जैसी बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध करवाने के लिए दिल्ली तक पदयात्रा भी कि, परन्तु अपने सपने को पूरा होते देख पाने से पहले ही कैंसर के कारण 2007 को उनकी मृत्यु हो गयी।

साथियो, यह कहानी हमें बताती है कि वह मज़दूर ही है जो अपने हाथों से बड़ी-बड़ी आलीशान इमारतें बनाते हैं, तथा अपना ख़ून-पसीना बहाकर धरती पर फ़सलें बोते हैं। परन्तु इतनी मेहनत करने के बावजूद आज भी हम गन्दी बस्तियों में रहने को मजबूर हैं, पूरी दुनिया के लोगों के लिए तमाम सुख-सुविधाएँ उत्पन्न करने के बावजूद आज भी हम और हमारा परिवार भूख और ग़रीबी के कारण नारकीय जीवन जीने को मजबूर हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि इस पूरी पूँजीवादी व्यवस्था में मेहनत तो हम करते हैं, लेकिन मुनाफ़ा मालिक लूटकर ले जाता है। आज अगर एक सुई से लेकर हवाई जहाज़ तक तमाम चीज़ें मज़दूर बना रहे हैं तो आगे चलकर पूरे देश की बागडोर भी अपने हाथ में ले सकते हैं। लेकिन इसके लिए सबसे पहले हमें अपने अधिकारों को जानते हुए संगठित होना पड़ेगा, केवल तभी हम लूट-खसोट पर टिकी इस पूँजीवादी व्यवस्था को बदलकर शोषण रहित समाज की स्थापना कर पायेंगे। यही हमारी दशरथ माँझी समेत मज़दूर वर्ग के अन्य शहीदों के लिए एक सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

- मनन

ओरियंट क्राफ्ट की घटना गुड़गाँव के मज़दूरों में इकट्ठा हो रहे ज़बर्दस्त आक्रोश की एक और बानगी है

गुड़गाँव के सेक्टर-34 स्थित हीरो होंडा चौक के पास ओरियंट क्राफ्ट कम्पनी में एक बार फिर पिछले 20 जून को मज़दूरों का आक्रोश भड़क उठा। सुबह फैक्ट्री में एक मज़दूर काम करते समय बिजली का करेंट लगने से बुरी तरह झुलस गया। मज़दूरों ने कम्पनी के अफसरों से घायल मज़दूर को अस्पताल ले जाने की बात कही लेकिन मैनेजमेंट ने मना कर दिया। इसके बाद मज़दूरों ने खुद अपने घायल साथी को अस्पताल में ले जाकर भरती कराया। कुछ देर बाद यह अफ़वाह फैली कि उस मज़दूर की मौत हो गयी है। इसके बाद मज़दूरों का दबा हुआ गुस्सा भड़क उठा और उन्होंने फैक्ट्री में तोड़फोड़ शुरू कर दी। उन्होंने फैक्ट्री के कुछ हिस्सों और अफसरों की गाड़ियों में आग लगा दी और अधिकारियों के साथ मारपीट भी की। आग बुझाने के लिए दमकल की 12 गाड़ियों को बुलाना पड़ा। इसके बाद करीब 400 पुलिस वालों ने फैक्ट्री पहुँचकर बुरी तरह लाठीचार्ज करके मज़दूरों को वहाँ से हटाया।

रेडीमेड गारमेंट बनाने वाली इस फैक्ट्री में इस तरह की यह पहली घटना नहीं है। पहले भी कई मौकों पर मज़दूरों के साथ दुर्घटनाओं में इलाज न होने या ठेकेदारों के दुर्व्यवहार के विरोध में मज़दूर अपने आक्रोश का उग्र प्रदर्शन कर चुके हैं। इस घटना ने एक बार फिर साबित कर दिया कि गुड़गाँव औद्योगिक क्षेत्र के कारख़ानों में हो रहे अमानवीय शोषण और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ मज़दूरों में भयंकर रोष व्याप्त है। किसी नेतृत्व के अभाव और अपनी जायज़ माँगों के लिए संगठित होकर कोई व्यापक आन्दोलन न कर पाने की स्थिति का नतीजा यह होता है कि मज़दूरों का गुस्सा इस प्रकार की घटनाओं के बहाने सड़क पर फूट पड़ता है जिसे अन्त में कम्पनी के गुण्डों या पुलिस दमन के बल पर कुचल दिया जाता है। इसके बाद ज़्यादातर मज़दूर दूसरी जगहों पर काम पकड़ लेते हैं या न्याय की आस में न्यायालयों के चक्कर लगाते रह जाते हैं।

आज मज़दूरों का जो गुस्सा सड़कों पर सामने आ रहा है यह इस बात का प्रमाण है कि पूरे गुड़गाँव

क्षेत्र के मज़दूरों में अपनी स्थिति को लेकर भारी असन्तोष है जिसे एक दिशा देने की ज़रूरत भी है और सम्भावना भी। गुड़गाँव में लगभग 10,000 कारखाने हैं, जहाँ पूरे साल स्थायी काम होता है फिर भी इनमें काम करने वाले ज़्यादातर मजदूर ठेके पर रखे जाते हैं। इसका एक प्रमाण यह है कि इनमें से सिर्फ 100 कारख़ानों में ही नाम मात्र के लिए मज़दूर अपनी ट्रेड यूनियन बना सके हैं। ज़्यादातर जगह यदि मज़दूर यूनियन बनाने की माँग उठाते हैं तो अगुवा मज़दूरों को निशाने पर लेकर मारपीट की जाती है या काम से निकाल दिया जाता है। यह सब मालिकों-ठेकेदारों और श्रम विभाग की मिलीभगत से होता है।

कई कारख़ानों के मज़दूरों से बात करने पर पता चलता है कि आये दिन मज़दूरों से जबरन ओवरटाइम करवाया जाता है, और अगर कोई मज़दूर ओवरटाइम से मना करता है तो कारख़ाने के अन्दर मालिक के गुण्डे डराते-धमकाते हैं और अक्सर बिना पैसे दिये काम से निकाल देते हैं, जिससे कि मज़दूरों में डर बना रहे। गाली-गलौच तो आम बात है। मज़दूरों ने बताया कि कभी भी उनका वेतन समय पर नहीं दिया जाता और छह दिन से एक महीने तक का वेतन रोककर रखा जाता है। ऐसा ही कुछ इसी ओरियंट क्राफ्ट कम्पनी में दो साल पहले हुआ था जहाँ एक दिन काम पर न आने के कारण ठेकेदार ने सोमवार को मज़दूरों के साथ गाली-गलौच की और एक मज़दूर के पेट में कैंची मारकर बुरी तरह घायल कर दिया। इस घटना के तुरन्त बाद मज़दूरों का दबा हुआ गुस्सा फूट पड़ा और उन्होंने सड़क पर खड़े वाहनों में तोड़-फ़ोड़ शुरू कर दी थी। उस वक़्त भी भारी पुलिस बल के बूते मज़दूरों के विरोध को काबू में किया गया था। इससे पहले भी कई बार उद्योग-विहार स्थित कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों ने काम की अमानवीय परिस्थियों के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ उठाने की कोशिश की, परन्तु मालिकों और पुलिस की मिलीभगत और सही नेतृत्व की कमी के कारण उनका संघर्ष किसी आन्दोलन का रूप न ले सका।

लगभग सभी कारख़ानों में आये दिन दुर्घटनाएँ होती रहती हैं और न तो कारख़ाने में इलाज की कोई उचित व्यवस्था होती हैं और न ही बाहर से इलाज कराया जाता है। अक्सर तो घायल मज़दूर को इलाज के लिए छुट्टी भी नहीं दी जाती और सीधे काम से निकाल दिया जाता है। कई बार दुर्घटना में मज़दूर की मौत हो जाने के बावजूद उसके परिजनों को मुआवज़ा भी नहीं मिलता है। अपने अमानवीय शोषण, काम के भीषण दबाव और ऊपर से आये दिन जान जोखिम में रहने के कारण मज़दूरों में अन्दर ही अन्दर ज़बर्दस्त तनाव और गुस्सा है। कोई संगठित और जुझारू मज़दूर आन्दोलन नहीं होने के कारण उनका गुस्सा ऐसे ही अराजक विस्फोट के रूप में बीच-बीच में फूट पड़ता है जिसे पुलिस-प्रशासन और मालिकान आसानी से दबा देते हैं।

पिछले कुछ समय से गुडगाँव में अलग-अलग कारख़ानों में भड़के मज़दूरों के गुस्से को देखकर आसानी से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि इस पूरे औद्योगिक क्षेत्र में काम करने

वाली मज़दूर आबादी ज़बरदस्त शोषण का शिकार है। सिर्फ़ ठेका मज़दूर ही शोषण का शिकार नहीं हैं, बल्कि कई कारख़ानों में स्थायी नौकरी वाले मज़दूरों की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। मारुति, पावरट्रेन, हीरो होण्डा, मुंजाल शोवा आदि इसके उदाहरण है। मगर नेतृत्व और किसी क्रान्तिकारी विकल्प के अभाव में शोषण और उत्पीड़न से बेहाल इस मज़दूर आबादी का आक्रोश अराजक ढंग से इस प्रकार की घटनाओं के रूप में सड़कों पर फूट पड़ता है। इसके बाद पुलिस और मैनेजमेण्ट का दमन चक्र चलता है जिसका मुकाबला बिखरे हुए मज़दूर नहीं कर पाते और गुस्से का उबाल फिर शान्त हो जाता है।

एटक, सीटू, एचएमएस जैसी बड़ी-बड़ी केन्द्रीय यूनियनें गुड़गाँव में मौजूद हैं लेकिन ऐसी घटनाओं के समय उनके दल्ले नेता मौके से नदारद रहते हैं। ओरियंट क्राफ्ट जैसे कारखानों के लाखों असंगठित मज़दूरों के सवालों को न वे उठाते हैं और न ही उन्हें संगठित करने की कोशिश करते हैं।

बीच-बीच में फूट पड़ने वाली ऐसी घटनाओं पर खुश होकर तालियाँ बजाने के बजाय ज़रूरत यह है कि असंगठित क्षेत्र की इस विशाल मज़दूर आबादी के बीच क्रान्तिकारी प्रचार-प्रसार करते हुए उनकी मूलभूत माँगों जैसे काम के उचित घण्टे, जबरन ओवरटाइम बन्द करवाने, प्रबन्धन की गुण्डागर्दी बन्द करने, ट्रेड यूनियन अधिकारों आदि पर मजदूरों को संगठित करने की कोशिश की जाये। सुधारवादी, अर्थवादी और धन्धेबाज़ ट्रेड यूनियनों का असली चेहरा मज़दूरों को दिखाया जाये और उनके बीच सुलगते रोष को एक सही क्रान्तिकारी दिशा देने की शुरुआत की जाये।

– बिगुल संवाददाता

क्या आपने ये बिगुल पुस्तिकाएँ पढ़ी हैं?

चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही
भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की एक नंगी और गन्दी तस्वीर
रु. 3.00

नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष – भारत की तरक्की के दावों के ढोल की पोल –
समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा
रु. 3.00

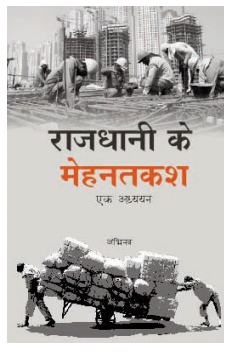

राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन
– अभिनव
रु. 15.00

गुड़गाँव के सभी ऑटो मज़दूरों को साझा माँगों पर एकजुट और संगठित करने का आह्वान करने वाली 'ऑटो मज़दूर संघर्ष समिति के कार्यकर्ता पर्चे बाँटते हुए।

वज़ीरपुर में गरम रोला मज़दूरों की हड़ताल के एक साल बाद

आज की परिस्थिति और आगे का रास्ता

वज़ीरपुर में 2014 की स्टील लाइन मज़दूरों की हड़ताल को 6 जून को एक साल हो गया। यह वही हड़ताल है जिसे आज भी मज़दूर अपनी हिम्मत और जुझारूपन के लिए याद करते हैं और तमाम मालिक और दल्ले नफ़रत से याद करते हैं। मज़दूरों को अगर अपने दुश्मन और दोस्तों को पहचानना है तो इसका पैमाना हड़ताल है, जिसे अच्छा मानने वाला मज़दूर की क़ौम है और इसे बुरा मानने वाला मालिक, दलाल और दोमुँही नस्ल का है। इस हड़ताल ने मज़दूरों को उनकी असीम ताक़त का अहसास दिला दिया। 32 दिनों तक चली इस हड़ताल को मालिकों ने तरह-तरह से तोड़ने की कोशिशें कीं। परन्तु यूनियन ने हर बार योजनाबद्ध तरीक़े से इन परिस्थितियों का सामना किया। घरों में राशन जब ख़त्म होने लगा तो यूनियन ने सामूहिक रसोई का प्रयोग किया, पैसे ख़त्म होने लगे तो यूनियन ने हड़ताल भत्ता देना शुरू किया। न सिर्फ़ वज़ीरपुर बल्कि पूरे देशभर से हड़ताल को समर्थन मिला। गरम रोला मज़दूरों की हड़ताल ठण्डा रोला, प्रेस, तेज़ाब, तपाई, पोलिश, रिक्शा व सभी मज़दूरों की हड़ताल बन गयी। और 6 जून को इस हड़ताल को पूरा एक साल हो गया। यह हड़ताल क्यों इतनी बड़ी बन गयी? 2014 में हमने 8 घण्टे काम की माँग की थी। हमने न्यूनतम वेतन की माँग की थी। हमने ईएसआई, पीएफ़ की माँग के साथ अन्य श्रम क़ानूनों की माँग की थी। यह सिर्फ़ एक फ़ैक्टरी की नहीं बल्कि सभी फ़ैक्टरियों की माँग थी, सभी पेशे के मज़दूरों की माँग थी। इसीलिए हमें इलाक़े ही नहीं देशभर के मज़दूरों ने समर्थन दिया।

हड़ताल में आंशिक जीत

हमने हड़ताल 32 दिन चलाकर मालिकों को मजबूर किया कि वे लेबर कोर्ट में समझौते पर हस्ताक्षर करें और हमारी जीत हुई। परन्तु पूँजीवाद के अन्तर्गत मज़दूरों की सभी जीतें आंशिक होती हैं।

फ़ैक्टरी मालिकों ने समझौते को मानने से मना कर दिया और 12 घण्टे काम करवाने के लिए अड़े रहे। 3 महीने तक मज़दूरों ने 8 घण्टे के काम को अपनी एकजुटता के दम पर लागू करवाया। परन्तु कई जगह हम कमज़ोर पड़ गये। कुल मिलाकर हमारी जीत आंशिक थी। फ़ैक्टरियों में 1500 रुपये वेतन भी बढ़ गया। हड़ताल के बाद कई मज़दूरों को काम से निकाला गया। कुछ लोगों के फ़ैसले हो गये हैं और यूनियन की क़ानूनी जीत हुई है। परन्तु हड़ताल का एक साल गुज़र चुका है और अब तक महँगाई जितनी बढ़ी है, वह पिछले साल के वेतन में पार नहीं पायी जा सकती है। दरअसल हमेशा ही मज़दूर को माल का उत्पादन करने के लिए जितना वेतन मिलता है, वह बाज़ार में इन्हीं मालों को ख़रीदने के लिए काफ़ी नहीं होता है क्योंकि माल उत्पादन की प्रक्रिया में मज़दूर जितनी मेहनत लगाता है उसका मालिक सिर्फ़ वही हिस्सा देता है जिससे मज़दूर सिर्फ़ "ज़िन्दा रहे"। यह व्यवस्था मज़दूरों के ज़िन्दा रहने की नयी परिभाषाएँ गढ़ती है। मज़दूरों द्वारा किये आर्थिक संघर्ष वेतन बढ़ाते हैं तो मालिक भी अपने माल की क़ीमत बढ़ाकर अपना मुनाफ़ा बरकरार रखते हैं व मुद्रास्फीति के ज़रिये अपना मुनाफ़ा बढ़ाते हैं। नहीं इसका यह मतलब नहीं है कि मज़दूरी बढ़ने के कारण क़ीमतें बढ़ती हैं। असल में बात बिल्कुल उल्टी है। सरकारें लगातार काग़ज़ी मुद्रा बाज़ार में मालों से अधिक छापती है और इसी कारण से सभी वस्तुओं की क़ीमत बढ़ती है

पिछले साल की हड़ताल की कुछ तस्वीरें

परन्तु मज़दूरी कभी भी इस मुद्रास्फीति के अनुरूप नहीं बढ़ती है जिस कारण मज़दूर अधिक से अधिक ग़रीब होता जाता है। वह बार-बार मजबूर होता है कि वेतन वृद्धि व अन्य सुविधाओं के लिए सड़क पर उतरे। परन्तु यह एक गोल चक्कर है जिससे सिर्फ़ वेतन भत्ते की लड़ाई लड़ते हुए निजात नहीं पाया जा सकता है। अगर इससे निजात पाना है तो इस पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने के लिए एकजुट होना होगा।

वज़ीरपुर में मन्दी के कारण

बर्तन का बाज़ार अपने-आप में स्टील के दाम तय नहीं करता है, बल्कि कहीं न कहीं यह धूमकेतु सा मुख्य उत्पादन क्षेत्रों के आगे-पीछे दौड़ता है। 2008 की मन्दी के कारण आज भी स्टील के उत्पादों के दाम काफ़ी नीचे हैं। इसका मुख्य कारण भी ऑटो सेक्टर और ग़ैर आवासीय निर्माण (नॉन रेज़िडेंशियल कंस्ट्रक्शन) सेक्टर के उत्पादन दर का नीचे आना है। दूसरी ओर चीन दुनिया में स्टील का सबसे बड़ा उत्पादक है और मज़दूरों को लूटकर ही माल बेहद सस्ते दामों में दुनियाभर के देशों के बाज़ारों में पाट देता है, इस मन्दी का इस्तेमाल चीन ने अपने सस्ते माल के ज़रिये दुनियाभर के बाज़ारों पर क़ब्ज़ा करने में भी किया है। इससे वज़ीरपुर के उद्योग पर क्या असर पड़ रहा है? क्योंकि प्रेस और पोलिश मालिक सीधे चीन का कोल्ड राल्ड शीट ख़रीद रहे हैं जोकि वज़ीरपुर में बन रहे माल से बेहद सस्ता है। यह माल प्रेस से कटिंग के बाद पोलिश करने के बाद सीधे बाज़ार में बिक जाता है। इस कारण ही गरम रोला, ठण्डा रोला, तेज़ाब, तपाई और रिक्शा में मन्दी छाई हुई है। हालाँकि इस बार बड़े स्टील उत्पादकों (ज़िन्दल स्टील और टाटा स्टील) ने भी सरकार पर दबाव बनाया कि वे चीन के माल पर आयात कर बढ़ायें। पूँजीपतियों ने सरकार को अपीलें जारी कीं और सरकार ने मालिकों की बात सुनी भी है और हड़ताल से लेकर अब तक तीन बार सरकार ने चीन की स्टील पर आयात कर बढ़ाया है, यह सोचकर कि इससे चीन का माल महँगा हो जायेगा, परन्तु चीन से आ रहा स्टील अभी भी सस्ता पड़ रहा है। परन्तु कई ऐसे भी कारख़ाने हैं जिन्होंने आयात कर का विरोध भी किया है क्योंकि उनके लिए चीन से मिल रहा सस्ता माल फ़ायदेमन्द था। यानी यह बाज़ार का खेल है और मालिक अपना मुनाफ़ा बनाये रखने के लिए कुत्ताघसीटी पर उतरे हुए हैं। ख़ैर हम इस बारे में पहले भी बात कर चुके हैं, यहाँ इसे दोहराना इसलिए ज़रूरी था कि वैसे तो अभी गरम रोला की फ़ैक्टरियों में मालिकों को वेतन बढ़ाना था, परन्तु मन्दी को कारण बताकर मालिकों ने कई फ़ैक्टरियों में अभी वेतन नहीं बढ़ाये हैं। इसका ठीकरा उन्होंने हड़ताल पर फोड़ने की कोशिश की है परन्तु ज़रा सोचिये अगर हड़ताल न भी हुई होती तो क्या चीन का माल नहीं आता? क्या पटाखों, मंजे, खिलौनों, मोबाइलों, रेडियो, डिब्बों से लेकर लगभग हर ज़रूरत का माल चीन से नहीं आ रहा है? क्या इन मालों के कारख़ानों में भी हड़ताल हुई थी? नहीं ऐसा नहीं है, यह व्यवस्था मुनाफ़े के आधार पर चलती है। मुनाफ़ाख़ोरी के पैरों के नीचे मज़दूर की खोपड़ी चूर-चूर भी हो जाती है। मज़दूर वर्ग की यूनियन और हड़ताल ही उसका हेल्मेट बनती है जो मज़दूर के अस्तित्व के लिए ज़रूरी है। मालिक हर हमेशा मज़दूर से उसके ये हथियार भी छीन लेना चाहता है। वज़ीरपुर के मालिक भी यूनियन के ख़िलाफ़ प्रचार करने में लगे हुए हैं। हमें भी अपनी लड़ाई का ख़ाका तैयार करना होगा।

आगे का रास्ता क्या हो?

1. इलाक़ाई और पेशागत एकता क़ायम करो

2014 की हड़ताल को एक साल बीत चुका है, जो वेतन में 1500 हमने हासिल किये थे, महँगाई बढ़ने के कारण आज हालत फिर पहले जैसी है। इस परिस्थिति में यूनियन की तरफ़ से मालिकों को न्यूनतम वेतन नोटिस दिये जा चुके हैं। गरम रोला की कुछ फ़ैक्टरियों में इस बार भी वेतन बढ़ा है परन्तु सभी फ़ैक्टरियों में नहीं बढ़ा है। ठण्डा रोला की फ़ैक्टरियों व स्टील लाइन की अन्य फ़ैक्टरी में मालिक दीवाली पर वेतन बढ़ाता है। हमें यह प्रयास करना चाहिए कि सभी मज़दूर एक साथ वेतन वृद्धि व अन्य श्रम क़ानूनों को लागू करवाने को लेकर संघर्ष करें। यानी हमें अपनी लड़ाई को इलाक़ाई और पेशागत आधार पर कायम करना चाहिए। यही ऐसा रामबाण नुस्खा है जो हमारी जीत को सुनिश्चित कर सकता है। यानी माँग सभी पेशे के मज़दूरों की उठायी जाये। पिछले साल की हड़ताल में मुख्यत: गरम रोला के मज़दूरों ने हड़ताल की थी, जिसका समर्थन अन्य सभी मज़दूरों ने किया था जिस कारण से हम हड़ताल को 32 दिन तक चला पाये और आंशिक जीत भी हासिल की। इस बार हमें शुरुआत ही अपनी इलाक़ाई और पेशागत यूनियन के बैनर तले संगठित होकर करनी चाहिए। यानी गरम, ठण्डा, तेज़ाब, तपाई, रिक्शा, प्रेस, पोलिश, शेअरिंग व अन्य स्टील लाइन के मज़दूरों का एक साझा माँगपत्र हमें मालिकों के सामने रखना चाहिए। कोई भी हड़ताल इलाक़ाई और सेक्टरगत आधार पर लड़कर जीती जा सकती है।

2. सिर्फ़ आर्थिक लड़ाई नहीं बल्कि राजनीतिक प्रचार व राजनीतिक अधिकारों के लिए एकजुटता

यूनियन को आगे सिर्फ़ वेतन भत्ते की लड़ाई तक सीमित न रहकर राजनीतिक अधिकारों के लिए एकजुट होना होगा। ठेका प्रथा उन्मूलन, शहरी रोज़गार गारण्टी योजना व आवास की माँग व अन्य माँगों को लेकर प्रचार व संघर्ष करने के लिए खड़ा होना होगा। क्योंकि जैसा हमने ऊपर देखा आर्थिक संघर्ष लड़कर हम हमेशा ही एक गोल चक्कर में घूमते रहने को मजबूर होते हैं। इसलिए हमें न सिर्फ़ वेतन भत्ते के लिए लड़ना होगा, बल्कि राजनीति को भी समझते हुए मज़दूर वर्ग के एतिहासिक मिशन को - पूँजीवाद को क़ब्र में पहुँचाने के लिए कमर कस लेनी चाहिए।

– सनी

“सामाजिक न्याय” के अलमबरदारों का अवसरवादी गँठजोड़ कोई विकल्प नहीं दे सकता

पेज 1 से आगे)

तक व्यवस्थित हो चुका है। उसकी दबाव की राजनीति कमजोर हो चुकी है और अतिसीमित मोलतोल से अधिक उसकी क्षमता रह ही नहीं गयी है। बड़े और खुशहाल मध्यम मालिक किसानों का बड़ा हिस्सा आज भाजपा की फासीवादी राजनीति को अंगीकार कर चुका है और गाँवों में पिछड़ी जातियों के मालिक किसानों में उसका नया सामाजिक आधार तैयार हुआ है। यही कारण है कि बुर्जुआ राजनीति की चुनावी बिसात पर अब कमण्डल के बरक्स मण्डल के दाँव के प्रभावी हो पाने की सम्भावना बहुत कम रह गयी है।

1977 में जयप्रकाश नारायण की विशेष पहल और प्रयासों से इन्दिरा-विरोधी सतरंगे बुर्जुआ संसदीय विपक्ष का एकीकरण जनता पार्टी के रूप में सामने आया था। इसमें संघ परिवार से जुड़ा धुर दक्षिणपन्थी भारतीय जनसंघ, कांग्रेस (ओ.) (जिसे सिण्डीकेट कांग्रेस भी कहा जाता था), चरण सिंह का भारतीय लोकदल, पुरानी प्रसोपा और संसोपा से जुड़े नरेन्द्र देव और लोहिया की धाराओं के रंग-बिरंगे समाजवादी, इन्दिरा कांग्रेस से निष्कासित चन्द्रशेखर के नेतृत्व वाले ‘युवा तुर्क’, बिखर चुकी दक्षिणपन्थी स्वतन्त्र पार्टी के कुछ बचे हुए नेता और 1977 के संसदीय चुनावों से ठीक पहले कांग्रेस से अलग हुई जगजीवन राम-बहुगुणा के नेतृत्व वाली ‘कांग्रेस फ़ॉर डेमोक्रेसी’ शामिल थीं। यह धुर दक्षिणपन्थी संघियों, कांग्रेस के पुराने दक्षिणपन्थियों, किसान राजनीति के मसीहाओं, नेहरूवादी “समाजवादी” परम्परा से जुड़ाव रखने वाले कुछ कांग्रेसियों और भाँति-भाँति के समाजवादियों (जो निम्न बुर्जुआ वर्ग और ‘लेबर अरिस्टोक्रेसी’ के नुमाइन्दे दक्षिणपन्थी सामाजिक जनवादी थे) की सतमेल खिचड़ी थी। जो नेता 1974 के छात्र आन्दोलन से उभरे थे, उनमें से अधिकांश अपने को किसी न किसी समाजवादी धारा से ही जोड़कर देखते थे। इनमें से कुछ उसी समय पश्चिमी साम्राज्यवाद के सहयोग से निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों को लागू करने के प्रबल पक्षधर थे, कुछ अलग-अलग रूपों में बुर्जुआ “कल्याणकारी राज्य” के कीन्सियाई नुस्खों और मिश्रित अर्थव्यवस्था को जारी रखने के पक्षधर थे और कुछ नरोदवाद के विकृत भारतीय संस्करण के नुमाइन्दे थे। इनके साथ आने का सिर्फ़ एक साझा मुद्दा था और वह था इन्दिरा निरंकुशशाही का विरोध करके भारतीय बुर्जुआ जनवाद की बहाली और संसदीय राजनीति की गाड़ी को पटरी पर लाना। आपातकाल के अनुभवों का समाहार करते हुए तथा उसके दूरगामी नतीजों को भाँपते हुए बुर्जुआ वर्ग भी अपने अग्रणी थिंक टैंकों के मशविरे के आधार पर यही चाहता था और आपातकाल से त्रस्त और आक्रोशित जनता भी, किसी क्रान्तिकारी विकल्प के अभाव में, इन्दिरा गाँधी के विरुद्ध किसी भी संगठित बुर्जुआ विपक्ष को वोट डालने के लिए तैयार थी। बुर्जुआ संसदीय जनवाद की बहाली के तात्कालिक उद्देश्य के पूरा होने के साथ ही जनता पार्टी ताश के पत्तों के महल की तरह बिखर गयी।

इसके बाद 1989 में राजीव गाँधी सरकार के शासनकाल में कांग्रेस से निकलकर विश्वनाथ प्रताप सिंह ने ‘जनमोर्चा’ बनाया, फिर पुरानी जनता पार्टी से छिटके दलों और कांग्रेस (एस.) को साथ लेकर जनता दल बनाया और उसके बाद द्रमुक, तेलुगू देशम, असम गण परिषद आदि क्षेत्रीय दलों को साथ लेकर ‘नेशनल फ़्रण्ट’ बनाया। यह वह समय था, जब एक ओर राजीव सरकार नवउदारवाद के दौर में संक्रमण की पूर्वपीठिका तैयार कर चुकी थी, दूसरी ओर चार दशक तक चली मिश्रित अर्थव्यवस्था बुर्जुआ वर्ग के लिए अपनी उपयोगिता खोकर व्यवस्था के गम्भीर संकट को जन्म दे चुकी थी। भ्रष्टाचार, बेरोज़गारी और महँगाई से जनता त्रस्त थी। इसी समय कांग्रेस से निकले हुए वी.पी. सिंह श्रीमान “सुथराजी” का चोला पहनकर सामने आये और उनकी पहल पर पुरानी जनता पार्टी के घटक एकबार फिर जनता दल के रूप में एकजुट हुए। वाम दलों और भाजपा - दोनों के ही सहयोग से वी.पी. सिंह के नेतृत्व में ‘नेशनल फ़्रण्ट’ ने दिसम्बर 1989 से नवम्बर 1990 तक सरकार चलायी और फिर अन्तर्कलह का शिकार होकर जनता दल भी बिखर गया। फिर कुछ महीनों तक कांग्रेस के समर्थन से चन्द्रशेखर ने सरकार चलायी। 1991 में चुनाव जीतकर नरसिंह राव की कांग्रेसी सरकार फिर सत्तासीन हो गयी, जिसने फ़ैसलाकुन ढंग से देश की अर्थव्यवस्था को नवउदारवाद की पटरी पर दौड़ा दिया।

1996-98 के दौरान जब देवगौड़ा और इन्द्रकुमार गुजराल के नेतृत्व में कांग्रेस के समर्थन से दो संयुक्त मोर्चा सरकारें सत्ता में रहीं, उस समय भी जनता पार्टी के घटक दल आपसी रार और खींचतान के बावजूद मात्र सत्तालोभ में कुछ दिनों के लिए मोर्चा बनाकर साथ आ गये थे। इन संयुक्त मोर्चा सरकारों ने नवउदारवादी नीतियों को ही निष्ठापूर्वक लागू करने का काम किया था।

इसके बाद केन्द्र की राजनीति में तो तथाकथित तीसरा मोर्चा एक प्रहसन बनकर रह गया, लेकिन राज्यों में लालू यादव, मुलायम सिंह यादव, नीतीश कुमार, देवगौड़ा, ओम प्रकाश चौटाला, नवीन पटनायक जैसे क्षत्रप मुख्यत: कुलकों और छोटे पूँजीपतियों की नुमाइन्दगी करते हुए जातिगत समीकरणों के आधार पर, ख़ासकर मालिक किसान आबादी में, अपना सामाजिक आधार बनाये रहे। इनमें से नीतीश कुमार, शरद यादव, जॉर्ज फ़र्नाण्डीज़, रामविलास पासवान, नवीन पटनायक, चौटाला जैसे नेता भाजपा नीत एन. डी.ए. गठबन्धन के साथ हो लिये, जबकि लालू यादव और अजीत सिंह ने कांग्रेस नीत यूपीए गठबन्धन का दामन थाम ही लिया था। मुलायम सिंह और देवगौड़ा धर्मनिरपेक्षता की पिपिहरी बजाते हुए मरणासन्न कथित तीसरे मोर्चा की धुकधुकी चलाते रहने की कोशिश करते रहे। ‘यूपीए-एक’ शासन काल के दौरान संसदीय वाम दलों के साथ मिलकर इन दलों ने मनमोहन सरकार का भीतर या बाहर से साथ दिया। ‘यूपीए-दो’ के शासनकाल के दौरान भी कमोबेश यही स्थिति बनी रही। दरअसल चरण सिंह के दौर तक की बुर्जुआ किसान राजनीति के पतन विघटन के बाद मुलायम सिंह, चौटाला आदि क्षत्रपों की राजनीति ने मुख्यत: कुलकों और क्षेत्रीय पूँजीपतियों की नुमाइन्दगी करते हुए भी बड़े पूँजीपतियों के साथ घृणित अवसरवादी एडजस्टमेंट की राजनीति में महारत हासिल कर ली थी। जो रंग-बिरंगे समाजवादी निम्न बुर्जुआ वर्गों, छोटे पूँजीपतियों और ‘लेबर एरिस्टोक्रेसी’ के प्रतिनिधि थे, उनकी स्वतन्त्र राजनीति का रहा-सहा स्कोप भी नवउदारवादी दौर में समाप्त हो गया था और वे बड़े बुर्जुआ दलों और क्षेत्रीय बुर्जुआ दलों में व्यवस्थित हो चुके थे।

विगत लोकसभा चुनावों में भारी बहुमत से मोदी का सत्ता में आना बुनियादी तौर पर न तो मोदी के कल्ट का नतीजा है, न ही कांग्रेस-विरोधी लहर का, न ही साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण का। असल बात यह है कि भारतीय व्यवस्था का वर्तमान संकट बुर्जुआ दायरे के भीतर, बुर्जुआ जनवाद के राजनीतिक ढाँचे को बरकरार रखते हुए, फासीवादी तौर-तरीक़ों से ही हल किया जा सकता था। कीन्सियाई नुस्खों की ओर वापसी की गुंजाइशें मुख्यत: समाप्त हो चुकी हैं और नवउदारवादी नीतियों को झटके से गति देकर आगे बढ़ाने के लिए और निर्बाध रूप से चलाने के लिए अभी एक निरंकुश हुकूमत बुर्जुआ वर्ग की ज़रूरत है। इसीलिए भारतीय पूँजीपति वर्ग ने अपना पूरा समर्थन इस बार मोदी को दिया और सबसे पुरानी बुर्जुआ पार्टी कांग्रेस को 2014 के संसदीय चुनावों में अब तक की सबसे बड़ी हार का सामना करना पड़ा। इसके बावजूद कांग्रेस संसदीय राजनीति के हाशिये पर पूरी तरह नहीं जा सकती। भारतीय पूँजीपति वर्ग के समक्ष आवश्यकतानुसार इस्तेमाल के लिए दूसरे विकल्प के रूप में उसकी मौजूदगी बनी रहेगी। नवउदारवादी नीतियों पर अन्धाधुन्ध अमल जब मोदी सरकार के विरुद्ध व्यापक जनअसन्तोष को जन्म देगा तो दूसरे विकल्प के रूप में बुर्जुआ वर्ग अपनी पुरानी भरोसेमन्द पार्टी कांग्रेस को ही आज़मायेगा जो इन्हीं नीतियों के प्रति प्रतिबद्ध है और जनान्दोलनों का दमन करना तथा निरंकुश ढंग से सत्ता चलाना भी बख़ूबी जानती है। व्यवस्था की दूसरी सुरक्षापंक्ति के रूप में संसदीय वाम दलों की भूमिका भी आज काफ़ी सिकुड़ गयी है, लेकिन मज़दूर वर्ग को अर्थवाद और संसदीय व्यामोह में फँसाये रखने के लिए उनकी भूमिका आगे भी बनी रहेगी तथा यूपीए जैसे गठबन्धन को धर्मनिरपेक्षता के नाम पर बाहर से समर्थन देने के लिए भी समय-समय पर उनकी ज़रूरत पड़ सकती है।

तथाकथित तीसरे मोर्चे की श्रेणी में आनेवाले छोटे बुर्जुआ दलों (जिनमें जनता पार्टी के सभी घटक दल शामिल हैं) की समस्या यह है कि नवउदारवादी नीतियों के प्रति प्रतिबद्ध होते हुए भी वे कभी भारत के बड़े बुर्जुआ वर्ग के लिए केन्द्र की सरकार चलाने के मामले में भरोसेमन्द विकल्प नहीं हो सकते हैं। बड़े बुर्जुआ वर्ग की नीतियों के पाबन्द होने के बावजूद इन दलों में क्षेत्रीय पूँजीपतियों और कुलकों के प्रतिनिधियों की प्रभावी मौजूदगी है, इसलिए इन दलों का सहायक के रूप में, या इनके गठबन्धन का ‘स्टॉप गैप अरेंजमेण्ट’ के रूप में इस्तेमाल ही बड़े बुर्जुआ वर्ग के लिए ज़्यादा सुविधाजनक हो सकता है। इसके अलावा, इन दलों के नेताओं का आपसी टकराव भी एक स्थिरतापूर्ण सरकार के लिए बाधक सिद्ध होता है।

फ़िलहाल, अगले तीन-चार वर्षों के दौरान आने वाले विधानसभा चुनावों के मद्देनज़र, नीतीश कुमार, लालू यादव, मुलायम सिंह यादव, देवगौड़ा आदि के समक्ष मोदी लहर को देखते हुए अस्तित्व का संकट आ खड़ा हुआ है। आगामी संसदीय चुनावों में भाजपा सरकार की सम्भावित अलोकप्रियता का अनुमान लगाते हुए केन्द्र में सत्तासीन होने का लालच भी ज़ोर मार रहा है। मुलायम सिंह प्रधानमन्त्री बनने के सपने के लिए पूरा ज़ोर लगाना ही चाहेंगे, लेकिन तथाकथित जनता परिवार के भीतर से ही उनके प्रतिस्पर्धी उनके अरमानों में पलीता लगाने के लिए तैयार बैठे रहेंगे।

टेढ़ी आँखें तिरछी नज़र — रामबाबू

सावधान, सरकार आपके हर फ़ोन, मैसेज, ईमेल, नेट ब्राउज़िंग की जासूसी कर रही है!

"बेशक यह जानने का कोई तरीका नहीं था कि किसी निश्चित क्षण में आप पर नज़र रखी जा रही है या नहीं। विचार पुलिस कितने-कितने समय पर, या किस प्रणाली पर, किसी व्यक्ति की निगरानी करती थी इसका बस अनुमान ही लगाया जा सकता था। यह भी हो सकता था कि वे हर समय हर किसी पर नजर रखते थे। लेकिन यह तो पक्का था कि वे जब चाहें तब आपकी निगरानी शुरू कर सकते थे। आपको यह मानते हुए जीना और मरना था कि आपकी हर आवाज़ सुनी जा रही है, और अँधेरे के सिवा, हर हरकत पर नज़र रखी जा रही है।"

अंग्रेज़ लेखक जॉर्ज ऑरवेल की इन पंक्तियों को समाजवादी राज्यों के कथित सर्वसत्तावाद पर चोट करने के लिए बार-बार उद्धृत किया जाता रहा है। मगर सच तो यह है कि ये पंक्तियाँ आज की पूँजीवादी दुनिया की सच्चाई को बयान करती हैं। ऑरवेल ने अपने उपन्यास '1984' में "बिग ब्रदर इज़ वॉचिंग यू" की जो तस्वीर पेश की थी वह आज पूँजीवादी देशों पर पूरी तरह लागू होती है। पूरी दुनिया के 'बिग ब्रदर' बनने की कोशिश करते अमेरिका ही नहीं, यूरोप के ज़्यादातर मुल्कों में भी सरकारें बुर्जुआ 'प्राइवेसी' के तमाम उसूलों को धता बताते हुए अपने नागरिकों के निजी जीवन में ताक-झाँक और दखलंदाज़ी करती रहती हैं। आम धारणा के ठीक उलट हकीकत यह है कि पश्चिम के पूँजीवादी देशों में निजी ज़िन्दगी में राज्य का दखल बढ़ता गया है। एक-एक नागरिक का पूरा रिकार्ड सरकारी एजेंसियों के पास होता है और उनकी गतिविधियों पर राज्य हर समय नज़र रखे रहता है। यह सारा कुछ कहने को तो नागरिकों की सुरक्षा के नाम पर होता है लेकिन इसका पहला शिकार नागरिक स्वतंत्रताएँ ही होती हैं। किसी भी तरह की व्यवस्था विरोधी गतिविधियाँ, रैडिकल विचार रखने वाले लोग, परिवर्तनवादी राजनीतिक कार्यकर्ता और बुद्धिजीवी विशेष रूप से इनके निशाने पर होते हैं। अमेरिका में 11 सितंबर 2001 के हमले के बाद आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध के नाम पर तो सभी देशों की सरकारों को मानो नागरिक स्वतंत्रताओं में जब-जैसे चाहे कतर-ब्योंत करने का लायसेंस मिल गया। अमेरिका में कुख्यात पैट्रियट ऐक्ट के तहत बुकस्टोर्स को ऐसे निर्देश दिये गये थे कि वे ख़ास तरह की किताबें और पत्रिकाएँ ख़रीदने वालों की रिपोर्ट दें। अमेरिकी संघीय खुफ़िया एजेंसी एफ़बीआई को किसी भी नागरिक की तलाशी लेने और आपराधिक मंशा का कोई साक्ष्य दिये बिना उसकी सभी गतिविधियों का ब्योरा और उस्तावेज़ हासिल करने के लगभग असीमित अधिकार दे दिये गये हैं।

भारतीय शासक अपने नागरिकों की जासूसी करने के मामले में अमेरिकी प्रशासन के काफ़ी मुरीद रहे हैं और अमेरिकी एजेंसियाँ इस मामले में उनकी मदद भी करती रही हैं। चाहे फोन टैपिंग का मामला हो या कुछ साल पहले पंजाब में बुकसेलर्स को ख़रीदारों की जासूसी करने के निर्देश देने की घटना हो।

लेकिन भारत सरकार सेंट्रल मॉनिटरिंग सिस्टम (सी.एम.एस.) के ज़रिये जो तैयारी कर रही है उसने देश के नागरिकों की एक-एक निजी गतिविधि पर नज़र रखने के मामले में अमेरिका को भी पीछे छोड़ दिया है। सी.एम.एस. के तहत देश में टेलिफोन और इंटरनेट से होने वाले समस्त संचार का सरकार और इसकी एजेंसियों द्वारा विश्लेषण किया जायेगा। इसका मतलब क्या हुआ? इसका मतलब यह है कि हम फोन पर जो भी बात करेंगे या मैसेज भेजेंगे, या इंटरनेट पर हम जो भी ईमेल, फेसबुक पोस्ट, ब्लॉग आदि लिखेंगे या जो भी वेबसाइट देखेंगे उसे सरकार की केन्द्रीय निगरानी प्रणाली द्वारा देखा और सुना जायेगा।

यूपीए सरकार द्वारा स्थापित सी.एम.एस. कुछ राज्यों में काम करना

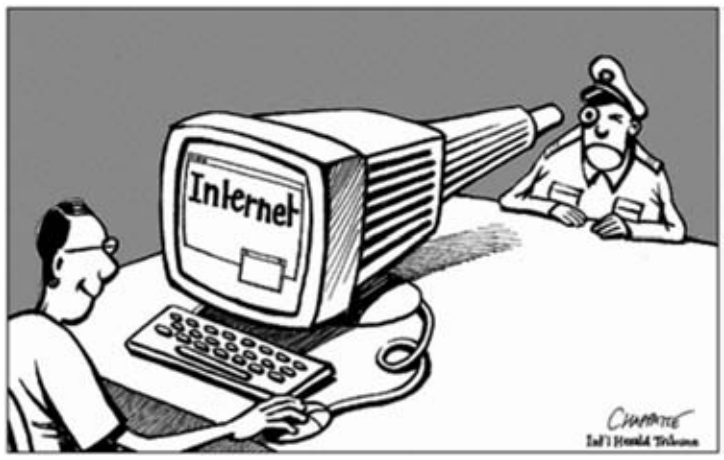

शुरू कर चुका है और मोदी सरकार इसे जल्द से जल्द देश भर में लागू करने के लिए काम कर रही है। टेलिकॉम एन्फोर्समेंट, रिसोर्स एंड मॉनिटरिंग (ट्रेम) और सेंटर फॉर डेवलपमेंट ऑफ टेलिमेटिक्स (सी-डॉट) ने सी.एम.एस. का ढाँचा तैयार किया है और इसका संचालन इंटेलिजेंस ब्यूरो (आईबी) को सौंपा गया है। सूचना प्रौद्योगिकी संशोधन क़ानून 2008 के द्वारा सरकार ई-जासूसी का अधिकार अपनी एजेंसियों को दे चुकी है और सी.एम.एस. के तहत केन्द्रीय तथा क्षेत्रीय डेटाबेस बनाये जायेंगे जो केंद्रीय तथा राज्य स्तरीय क़ानून प्रवर्तन एजेंसियों को सूचनाओं के इंटरसेप्शन तथा निगरानी में मदद करेंगे। अब टेलिकॉम कम्पनियों और इंटरनेट सेवा प्रदाताओं की मदद लिये बिना ही सरकारी एजेंसियाँ किसी भी नंबर या ईमेल खाते की सारी जानकारी सीधे हासिल कर सकती हैं।

सी.एम.एस. की शुरुआती लागत लगभग 400 करोड़ बतायी गयी थी जो अब बढ़कर 1000 करोड़ पार कर चुकी है। यह टेलिफोन कॉल इंटरसेप्शन सिस्टम (टीसीआईएस) से भी जुड़ा होगा जो वॉयस कॉल, एसएमएस-एमएमएस, फैक्स, सीडीएमए, वीडियो कॉल, जीएसएम और 3जी नेटवर्कों की निगरानी करने में मदद करेगा। जिन एजेंसियों की सी.एम.एस. तक सीधी पहुँच होगी उनमें रिसर्च एंड एनालिसिस विंग (रॉ), केन्द्रीय खुफिया ब्यूरो (सीबीआई), राष्ट्रीय जाँच एजेंसी (एनआईए), केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड, नारकोटिक्स कंट्रोल ब्यूरो और प्रवर्तन निदेशालय समेत कुल नौ एजेंसियाँ शामिल हैं। इसके अलावा, रक्षा अनुसन्धान एवं विकास संगठन (डीआरडीओ) 'नेत्र' नाम से एक और खुफ़िया तंत्र विकसित कर रहा है जो मुख्यत: इंटरनेट की जासूसी करेगा। इसके बारे में कोई भी ब्यौरा सार्वजनिक नहीं किया गया है।

दरअसल, भारतीय राज्य द्वारा नागरिकों की जासूसी कोई नयी बात नहीं है। किसी भी प्रकार की जनपक्षधर राजनीति से जुड़े लोग जानते हैं कि उनकी चिट्ठियों को खोलकर पढ़ा जाता है, टेलिफोन सुने और रिकॉर्ड किये जाते हैं, उनके घरों-दफ़्तरों पर निगरानी रखी जाती है, पीछा किया जाता है। अंग्रेज़ों के बनाये तमाम क़ानूनों की तरह भारत सरकार ने 1885 के इंडियन टेलिग्राफ़ ऐक्ट के उस प्रावधान को भी बनाये रखा है जिसके तहत किसी भी नागरिक के टेलिग्राम या टेलिफोन को टैप किया जा सकता था। पीयूसीएल की एक याचिका के बाद उच्चतम न्यायालय के निर्देश पर 1999 में सरकार ने इस क़ानून में सुधार कर कुछ बन्दिशें जोड़ीं लेकिन उनका कोई ख़ास मतलब नहीं है। अमेरिका में फोन टैप करने का आदेश केवल एक जज दे सकता है और वह भी तब जब उसे यह भरोसा हो जाये कि राज्य के पास ऐसा करने के लिए क़ानूनी आधार मौजूद है। जबकि भारत में कोई भी नौकरशाह या पुलिस अधिकारी इसका आदेश दे सकता है। इंग्लैण्ड में भी फोन टैप करने का आदेश नौकरशाहों को है लेकिन इसकी समीक्षा एक स्वतंत्र ऑडिटर और एक न्यायिक ट्रिब्यूनल द्वारा की जाती है। भारत में ऐसे आदेश की समीक्षा भी दूसरे नौकरशाहों यानी आदेश देने वाले अफसर के समकक्षों द्वारा ही की जाती है। दुनिया के दूसरे देशों में गम्भीर अपराधों या सुरक्षा को गम्भीर ख़तरे की स्थिति में भी ऐसे आदेश देने का प्रावधान है, जबकि भारत में आयकर विभाग भी फोन टैप करवा सकता है। ज़मीनी सच्चाई तो यह है कि एक थानेदार भी आपके फोन टैप करवा सकता है। हालाँकि, बढ़ते सामाजिक असन्तोष और पूँजीवादी व्यवस्था के गहराते संकट के चलते पश्चिम के देशों में भी लम्बे संघर्षों से हासिल किये गये नागरिक अधिकार लगातार छीने जा रहे हैं और इसीलिए वहाँ भी ऐसे खुफ़िया तंत्र विकसित किये गये हैं जो इन क़ानूनी बन्दिशों से किनारा करके बेरोकटोक नागरिकों की जासूसी कर सकें। भारत में तो नागरिक स्वतंत्रताएँ पहले ही बहुत कम हैं और यहाँ नागरिक अधिकार आन्दोलन भी बेहद कमज़ोर है। ऐसे में सी.एम.एस. जैसे खुफ़िया तंत्र के विरुद्ध कोई प्रभावी आवाज़ तक नहीं उठ रही है।

सी.एम.एस. के पूरी तरह सक्रिय होने के बाद क्या होगा इसका अनुमान लगाने के लिए मुम्बई पुलिस द्वारा पिछले साल शुरू किये गये 'सोशल मीडिया हब' के काम से लगाया जा सकता है। इस सेंटर में 20 पुलिस अफसर तैनात हैं जो फेसबुक, ट्विटर और अन्य सोशल नटवर्किंग साइटों पर नज़र रखते हैं। पुलिस प्रवक्ता सत्यनारायण चौधरी के मुताबिक ये अधिकारी ख़ास तौर पर इस बात पर नज़र रखेंगे कि नौजवानों के बीच आजकल किन मुद्दों पर चर्चाएँ चल रही हैं और उनका मूड क्या है और इसी के अनुसार क़ानून-व्यवस्था बनाये रखने के इन्तज़ाम किये जायेंगे। कहने की ज़रूरत नहीं कि सभी परिवर्तनकामी आन्दोलनों और जनसंगठनों पर इसकी विशेष निगाह रहेगी और राजनीतिक बहसों तथा अभिव्यक्ति की आज़ादी को कुचलने के लिए इसका इस्तेमाल किया जायेगा। राजधानी दिल्ली में हाल में कई ऐसे धरना-प्रदर्शन हुए जिनकी एकाध दिन पहले योजना बनायी गयी और केवल फोन या फेसबुक के ज़रिये भाग लेने वालों को इसकी सूचना दी गयी, मगर सूचना न देने के बावजूद पुलिस की स्पेशल ब्रांच से उनके पास कार्यक्रम की जानकारी लेने के लिए फोन आने शुरू हो गये। ज़ाहिर है कि दिल्ली पुलिस बिना घोषणा के ही सोशल मीडिया की निगरानी शुरू कर चुकी है। बाल ठाकरे की मौत के बाद मुम्बई को ठप कर देने की आलोचना करने वाली एक फेसबुक पोस्ट के कारण ठाणे की दो युवतियों की गिरफ़्तारी आने वाले दिनों का एक संकेत है।

प्रौद्योगिकी की बढ़ती ताकत ने सत्ता के लिए समाज की हर गतिविधि पर नज़र रखना और भी आसान कर दिया है। माइक्रोसॉफ़्ट और गूगल जैसी दैत्याकार कंपनियाँ इंटरनेट पर लोगों की हर गतिविधि का ब्योरा जुटाने और एक-एक नेट प्रयोक्ता की प्रोफ़ाइल तैयार करने में लगी हुई हैं जिनका इस्तेमाल कारोबार से लेकर विचारों के नियंत्रण और दमन तक किया जा सकता है।

कुछ वर्ष पहले यूरोपीय संसद की एक जाँच समिति ने एक वर्ष की जाँच-पड़ताल के बाद इस बात की पुष्टि की थी कि अमेरिका और उसके सहयोगी देश लम्बे समय से दुनिया भर में ई-मेल, फैक्स और फोन सन्देशों को चोरी-छिपे पढ़ते और सुनते रहे हैं। 'एकेलॉन' नामक यह अति गोपनीय विश्वव्यापी जासूसी तंत्र कई दशकों से इस हरकत में लगा हुआ है। इसमें अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड शामिल हैं। इस भण्डाफोड़ के बाद भी अमेरिका बेशर्मी के साथ झूठ बोलता रहा कि ऐसा कुछ भी नहीं है। फिर 11 सितंबर की घटना हुई और इस मामले पर सभी ने चुप्पी साध ली। मगर यह तंत्र पहले से भी ज़्यादा मुस्तैदी से अपना काम कर रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही एकेलॉन का जाल फैलना शुरू हो गया था। संचार माध्यमों के उन्नत होते जाने के साथ अमेरिका ने इसमें जमकर पैसा लगाया ताकि ई-मेल, फैक्स आदि को भी जासूसी के दायरे में लाया जा सके। अभी यूरोपीय देशों में इसकी मौजूदगी के साक्ष्य मिले हैं लेकिन यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि तीसरी दुनिया के देशों में भी एकेलॉन का अदृश्य जाल ज़रूर फैला होगा। अमेरिका ने सहयोगी देशों की मदद से अनेक देशों में अपने खुफ़िया केन्द्र स्थापित किये हैं जहाँ से वह यूरोप और अमेरिका में कहीं से कहीं भी भेजे जाने वाले सभी ई-मेल और फैक्स संदेशों को बीच में ही पढ़ सकता है और फोन कॉलों को सुनकर रिकार्ड कर सकता है। ऐसे खुफ़िया केन्द्र किसी न किसी छद्म नाम से काम करते हैं। प्राय: किसी तकनीकी संस्थान या रेडियो स्टेशन या ऐसे ही आवरण का इस्तेमाल किया जाता है। ब्रिटेन जैसे देशों में खुद सरकार की मदद से ऐसा किया जा रहा है।

अमेरिकी खुफ़िया एजेंसी एफ़.बी.आई. द्वारा चलाये जा रहे कार्निवोर (मांसभक्षी) नामक तंत्र के ज़रिए अमेरिका में किसी नागरिक द्वारा भेजे या प्राप्त किये गये समस्त ई-मेल सन्देश पढ़े जा सकते हैं, वह कौन सी वेबसाइट खोलता है, किस चैट रूम में जाता है, यानी इंटरनेट पर उसकी एक-एक कार्रवाई को बाकायदा दर्ज किया जा सकता है। अमेरिका की नेशनल सिक्योरिटी एजेंसी (एनएसए, जिसकी तर्ज पर भारत में एनआईए बनाया गया है) 'प्रिज़्म' नाम से ऐसा ही खुफ़िया तंत्र चलाती है। सी.एम.एस. को प्रिज़्म की ही तर्ज पर खड़ा किया गया है।

अन्यायी शासक वर्ग हमेशा ही इस आशंका से भयाक्रान्त रहते हैं कि दबे-कुचले लोग एक दिन एकजुट हो जायेंगे और उनके शासन को उखाड़कर फेंक देंगे। सभी अत्याचारी शासक जनता से कटे होते हैं और उन्हें पता नहीं होता कि लोगों के दिलो-दिमाग में क्या चल रहा है। इसीलिए सारी ही शोषक सत्ताएँ लम्बा-चौड़ा खुफ़िया तंत्र खड़ा करती रही हैं ताकि किसी भी बग़ावत को पहले ही कुचल दिया जाये। लेकिन इतिहास इस बात का गवाह है कि जब जनता जाग उठती है तो सारे खुफ़िया तंत्र और सारी टेक्नोलॉजी धरी की धरी रह जाती है और शोषकों का तख़्ता पलट दिया जाता है।

– सत्यम

अमीरज़ादों के लिए स्मार्ट सिटी, मेहनतकशों के लिए गन्दी बस्तियाँ

नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व वाली मौजूदा केन्द्र सरकार के एक साल के कार्यकाल पर नज़र दौड़ाने से यह साफ़ हो जाता है कि वह इस देश की तमाम समस्याओं का समाधान करने के लिए समस्याओं की गहराई में जाने की बजाय कुछ लोकलुभावन जुमले उछाल देती है और तमाम पूँजीवादी अख़बार और टीवी चैनल इन जुमलों को लपककर भाड़े के बुद्धिजीवियों और पत्रकारों के ज़रिये माथापच्ची का दिखावा करते रहते हैं जिनसे समस्याओं का समाधान तो नहीं होता, लेकिन लोगों में यह उम्मीद जग जाती है कि उनके अच्छे दिन भले ही एक साल में न आये हों लेकिन जल्द ही अच्छे दिन आयेंगे। इन दिनों स्मार्ट सिटी का जुमला ख़ूब उछाला जा रहा है। हमें बताया जा रहा है कि गाँवों से शहर की ओर बढ़ते हुए पलायन और शहरीकरण की बढ़ती रफ़्तार के मद्देनज़र कुछ ही सालों में इस देश में 100 स्मार्ट शहर बनाये जायेंगे, जिनमें सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी की मदद से पानी व बिजली की सप्लाई, कचरा प्रबन्धन, यातायात प्रबन्धन, ऊर्जा संरक्षण, महिलाओं की सुरक्षा आदि जैसी चुनौतियों से आसानी से निपटा जा सकेगा। अच्छे दिनों की आस लगाये मोदी के अन्धसमर्थक और मध्यवर्ग का अराजनीतिक एवं कूपमण्डूक तबका अभी से एक ऐसे शहर में रहने के सपने देख रहा है जहाँ चप्पे-चप्पे पर वाई-फ़ाई होगा जिससे वे मनचाही जगह पर इण्टरनेट से जुड़ सकेंगे, जहाँ ब्लूटूथ तकनीक से वे अपने घर की बत्तियाँ व अन्य उपकरण दूर से ही नियन्त्रित कर सकेंगे, जहाँ चप्पे-चप्पे पर सीसीटीवी कैमरा लगा होगा जिससे छुटभैया चोरों से लेकर आतंकवादियों और बलात्कारियों को पकड़ना आसान हो जायेगा। लेकिन मध्यवर्ग के इन मुंगेरीलालों के हसीन सपनों के बारे में शब्द ख़र्च करने की बजाय आइये हम इस सवाल पर संज़ीदगी से सोचें कि ऐसे स्मार्ट शहरों के बनने से आम मेहनतकश आबादी की ज़िन्दगी में क्या बदलाव आयेगा।

मुम्बई की एक मज़दूर बस्ती

मोदी सरकार और उसके अन्धभक्तों द्वारा स्मार्ट सिटी का जुमला उठाये जाने पर कोई भी तार्किक व्यक्ति यह सवाल उठायेगा कि मौजूदा शहरों में जो करोड़ों-करोड़ मेहनत-मजूरी करने वाले लोग नरक जैसे हालात में रह रहे हैं, उनके बारे में यह सरकार क्यों नहीं सोचती। इस देश के शहरों में तेज़ी से पनप रहे शॉपिंग मॉलों, फ़्लाईओवरों और लक्ज़री अपार्टमेण्टों की चकाचौंध में आँख चौंधियाने की बजाय अगर हम उनसे थोड़ी ही दूर किसी मज़दूर बस्ती में जाकर आम मेहनतकश लोगों के रहने के हालात देखने का साहस करें तो हमें इस देश के शासकों द्वारा उठाये जा रहे जुमले किसी भद्दे मज़ाक़ जैसी उबकाई पैदा करने लगेंगे।

इन शहरों की गगनचुम्बी इमारतों और शॉपिंग मॉलों की लकदक से लहालोट और मेहनतकश अवाम से कटकर अलगावग्रस्त जीवन बिता रही मध्यवर्गीय जमात आमतौर पर इस देश के बारे में जानने के लिए टीवी, अख़बारों और इण्टरनेट का सहारा लेती है। अगर वे भारत में विकसित हो रहे शहरों की असलियत जानने के लिए किसी मज़दूर बस्ती में जाने की हिम्मत करें तो पायेंगे कि जिस आबादी की वजह से शहरों की चकाचौंध क़ायम रहती है, वह ख़ुद कितनी अँधेरी दुनिया में रहती है। मज़दूर बस्तियों में पानी के लिए सुबह जल्दी उठने के बावजूद लम्बी क़तारें लगती हैं, पीने के लिए स्वच्छ पानी तो फिर भी नहीं मिलता। बोतलों में भरकर पीने वाले पानी बेचने का धन्धा मज़दूर बस्तियों में भी ख़ूब फल-फूल रहा है। ज़ाहिर है बमुश्किल पेट भरने लायक कमाने वाली मज़दूर आबादी का बड़ा हिस्सा तो साफ़ पीने के पानी से पूरी तरह महरूम होता जा रहा है। गन्दा पानी पीकर या कम पानी पीने से वे और उनके बच्चे आये दिन बीमार पड़ते रहते हैं। इन बस्तियों में नालियाँ गन्दगी से बजबजाती रहती हैं, उनमें सीवर का पानी यूँ ही बहता रहता है। कूड़ा-कचरा खुले में ही पड़ा रहता है जो बीमारियों और महामारियों का कारण बनता है। इन बस्तियों में बिजली का कोई भरोसा नहीं रहता। दिन में कई घण्टे बिजली रहती ही नहीं है और कभी-कभी तो पूरा दिन बिजली गुल रहती है। इन बस्तियों की सड़कों की खस्ता हालत देखकर कोई कह ही नहीं सकता कि ये शहर का ही हिस्सा हैं।

किसी भी सरकार की पहली प्राथमिकता तो यह होनी चाहिए कि मौजूदा शहरों की मज़दूरों एवं ग़रीबों की बस्तियों में बिजली, पानी, स्वच्छ वातावरण जैसी बुनियादी सुविधाएँ मुहैया हों। लेकिन अच्छे दिनों का वायदा करने वाली मोदी सरकार इन बुनियादी समस्याओं को हल करने की बजाय अब स्मार्ट सिटी के सब्ज़बाग दिखा रही है।

आइये देखें कि स्मार्ट सिटी होती क्या है और स्मार्ट सिटी बनाने की योजना के तहत किस तरह के शहर विकसित किये जायेंगे और इन नये शहरों में मज़दूरों की क्या स्थिति होगी। दुनियाभर में फैल चुकी मौजूदा महामन्दी के दौर में अपने मालों के लिए नये बाज़ारों के निर्माण के लिए आईबीएम एवं सिस्को जैसी कम्पनियों ने स्मार्ट सिटी के जुमले को उछालने की शुरुआत की जिसमें ऐसे नये शहर बनाने के लिए दुनियाभर की सरकारों को लालच दिया गया जिनमें सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी की मदद से पानी, बिजली, कचरा प्रबन्धन, यातायात प्रबन्धन, ऊर्जा संरक्षण जैसी बुनियादी सुविधायें मुहैया की जायेंगी। चीन एवं दक्षिण कोरिया जैसे देशों की सरकारें कई स्मार्ट शहर पहले ही बना चुकी हैं। ये बात दीगर है कि इनमें से अधिकांश इतने ख़र्चीले हैं कि वहाँ लोग रहना पसन्द नहीं कर रहे हैं और कम जनसंख्या की वजह से इनमें से कई स्मार्ट सिटी अब घोस्ट सिटी यानी भुतहा शहर के रूप में जाने जाते हैं।

मोदी सरकार स्मार्ट शहर बनाने की योजना को पूँजीवादी विकास को द्रुत गति देने एवं विदेशी पूँजी निवेश को बढ़ावा देने की अपनी मंशा के तहत ही ज़ोर-शोर से प्रचारित कर रही है। ग़ौरतलब है कि ये स्मार्ट शहर औद्योगिक कॉरिडोरों के इर्द-गिर्द बसाये जायेंगे। इन स्मार्ट शहरों में हरेक नागरिक को एक पहचान पत्र रखना होगा और उसमें रहने वाले हर नागरिक की गतिविधियों पर सूचना एवं संचार उपकरणों एवं प्रौद्योगिकी की मदद से निगरानी रखी जायेगी। इस योजना के पैरोकार खुलेआम यह बोलते हैं कि निजता का हनन करने वाली ऐसी केन्द्रीयकृत निगरानी इसलिए ज़रूरी है ताकि किसी भी प्रकार की असामान्य गतिविधि पर तुरन्त क़दम उठाये जा सकें। स्पष्ट है कि इस तरह की निगरानी रखने के पीछे उनका मक़सद आम मेहनकश जनता की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखना है ताकि वो अमीरों की विलासिता भरी ज़िन्दगी में कोई खलल न पैदा कर सके। इसके अलावा ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि इन शहरों में अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी की मदद से सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी, वे इतनी ख़र्चीली होंगी कि उनका इस्तेमाल करने की कूव्वत केवल उच्च वर्ग एवं उच्च मध्यवर्ग के पास होगी। निम्न मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग इन स्मार्ट शहरों में भी दोयम दर्ज़े के नागरिक की तरह से नगर प्रशासन की कड़ी निगरानी में अलग घेट्टों में रहने पर मज़बूर होगा।

भूमण्डलीकरण के इस दौर में जहाँ एक ओर उत्पादन से जुड़ी गतिविधियों को अनौपचारीकरण, ठेकाकरण और दादनी प्रथा के ज़रिये छोटी-छोटी फ़ैक्टरियों में बिखराने से कार्यस्थल पर मज़दूरों की एकता का आधार कमज़ोर हुआ है, वहीं दूसरी ओर इस दौर में शहरीकरण की प्रक्रिया में स्पष्ट वर्गीय ध्रुवीकरण होने से मज़दूरों के रिहायशी इलाक़ों में उनकी एकजुटता का आधार पहले से कहीं मज़बूत हो रहा है। ऐसे में मज़दूर आन्दोलन को स्मार्ट सिटी जैसी योजनाओं के मज़दूर विरोधी चरित्र का पर्दाफ़ाश करते हुए मज़दूर बस्तियों में पानी, बिजली, सड़क, नाली, सफ़ाई आदि जैसी बुनियादी सुविधाओं को मुहैया कराने की माँग के इर्द-गिर्द मज़दूरों को एकजुट करने के काम को अपने एजेण्डे में प्रमुखता से लाना होगा।

– आनन्द

गुज़रात में निर्माणाधीन स्मार्ट शहर धोलेरा का नक्शा

मोदी सरकार के अगले चार वर्षों के बारे में वैज्ञानिक तथ्य-विश्लेषण आधारित कुछ भविष्यवाणियाँ!

(पेज 1 से आगे)

मिलेगी।

लुब्बेलुबाब यह कि मोदी सरकार की नीतियों ने उस ज्वालामुखी के दहाने की ओर भारतीय समाज के सरकते जाने की रफ्तार को काफी तेज कर दिया है, जिस ओर घिसटने की यात्रा गत लगभग तीन दशकों से जारी है। भारतीय पूँजीवाद का आर्थिक संकट ढाँचागत है। यह पूरे सामाजिक ताने-बाने को छिन्न-भिन्न कर रहा है। बुर्जुआ जनवाद का राजनीतिक-संवैधानिक ढाँचा इसके दबाव से चरमरा रहा है। मोदी सरकार पाँच वर्षों के बाद लोगों के सामने अलग नंगी खड़ी होगी। भारत को चीन और अमेरिका जैसा बनाने के सारे दावे हवा हो चुके रहेंगे। भक्तजनों को मुँह छुपाने को कोई अँधेरा कोना नहीं नसीब होगा। फिर 'एण्टी-इन्कम्बेंसी' का लाभ उठाकर केन्द्र में चाहे कांग्रेस की सरकार आये या तीसरे मोर्चे की शिवजी की बारात और संसदीय वामपंथी मदारियों की मिली-जुली जमात, उसे भी इन्हीं नवउदारवादी नीतियों को लागू करना होगा, क्योंकि कीन्सियाई नुस्खों की ओर वापसी अब सम्भव ही नहीं।

आने वाले वर्षों में व्यवस्था के निरन्तर जारी असाध्य संकट का कुछ-कुछ अन्तराल के बाद सड़कों पर विस्फोट होता रहेगा। जब तक साम्राज्यवाद विरोधी पूँजीवाद विरोधी सर्वहारा क्रान्ति की नयी हरावल शक्ति नये सिरे से संगठित होकर एक नये भविष्य के निर्माण के लिए आगे नहीं आयेगी, देश अराजकता के भँवर में गोते लगाता रहेगा और पूँजीवाद का विकृत से विकृत, वीभत्स से वीभत्स, बर्बर से बर्बर चेहरा हमारे सामने आता रहेगा।

इण्डोनेशिया में 10 लाख कम्युनिस्टों के क़त्लेआम के पचास वर्ष

आज से लगभग 50 वर्ष पूर्व 8 अक्टूबर 1965 को इण्डोनेशिया में वहाँ की सेना द्वारा पीकेआई (इण्डोनेशिया की कम्युनिस्ट पार्टी) के विरुद्ध की गयी सैन्य कार्रवाई में 10 लाख से अधिक कम्युनिस्टों और उनके समर्थकों को क़त्ल कर दिया गया था और 7 लाख से अधिक को जेलों में ठूस दिया गया था। इस नरसंहार को अंजाम देने वाले सैन्य जनरल सुहार्तो ने मार्च 1966 में राष्ट्रपति सुकर्ण का तख़्तापलट किया और सत्ता की बागडोर अपने हाथों में ले ली।

इण्डोनेशिया में हुए 20वीं सदी के इस जघन्यतम नरसंहार पर कॉरपोरेट मीडिया और विश्व के तमाम पूँजीवादी देशों द्वारा अपनायी गयी चुप्पी पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। ऐसे दस्तावेज़ हैं जिनसे पता चलता है कि यह सब कुछ इण्डोनेशियाई सेना और अमेरिकी साम्राज्यवाद की मिलीभगत से हुआ था।

पीकेआई (इण्डोनेशिया की कम्युनिस्ट पार्टी) की स्थापना 1920 में हुई थी और जल्द ही यह विश्व की सबसे बड़ी कम्युनिस्ट पार्टियों की क़तारों में शामिल हो गयी। इण्डोनेशिया के मज़दूरों-किसानों में इसका व्यापक असर था और साम्राज्यवाद के विरुद्ध यह पार्टी सशस्त्र संघर्ष की अगुआई कर चुकी थी। वर्ष 1965 तक इसके 35 लाख सदस्य थे और अगर इसमें मज़दूरों, किसानों, छात्रों-युवाओं, महिलाओं आदि के सम्बद्ध संगठनों की सदस्य संख्या भी जोड़ दी जाये तो यह 3 करोड़ तक पहुँचती थी, उस समय इण्डोनेशिया की कुल आबादी 11 करोड़ थी।

इण्डोनेशिया में उभर रही कम्युनिस्ट ताक़त से अमेरिका काफ़ी बेचैन था। वह पहले ही लाओस, कम्बोडिया और वियतनाम युद्ध में बुरी तरह फँसा हुआ था और वियतनाम के कम्युनिस्ट प्रतिरोध के सामने खुद को विवश महसूस कर रहा था। उधर चीन में कम्युनिस्ट सत्ता मज़बूत हो रही थी और उत्तर कोरिया में भी कम्युनिस्ट सत्ता में आ चुके थे। अमेरिकी खुफ़िया एजेंसी का 1965 में यह मूल्यांकन बन चुका था कि यदि कुछ न किया गया तो दो से तीन वर्षों के भीतर इण्डोनेशिया की सरकार कम्युनिस्टों के हाथों में आ जायेगी। इधर इण्डोनेशिया के भीतर भी वर्ग संघर्ष तीखा हो रहा था। राष्ट्रपति सुकर्ण भूमि सुधारों को ज़मीनी स्तर पर लागू करने में टालमटोल का रवैया अपना रहे थे। कम्युनिस्टों ने 1959 के बटाईदार क़ानून और 1960 के मूल कृषि क़ानून के आधार पर किसानों से अपील की कि वे स्वयं ही क़ानून लागू करने के लिए आगे आयें। इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण इलाक़ों में किसानों ने भूमि अधिकार को लेकर लामबन्दियाँ शुरू कर दी।

ग़ौरतलब तथ्य यह है कि सेना के अधिकांश जनरल सामन्ती पृष्ठभूमि से आते थे और कम्युनिस्टों से बेहद घृणा करते थे। वर्ष 1965 में इन जनरलों ने 'काउंसिल ऑफ़ जनरल्स' नाम से एक कार्यसमूह का गठन किया और जनरल यानी की अध्यक्षता में हुई बैठक में देश की राजनीतिक स्थिति पर चिन्ता ज़ाहिर की। इन उच्च सैन्य जनरलों को अमेरिका की सरपरस्ती हासिल थी। वे सुकर्ण को अपदस्थ करने और कम्युनिस्टों को ख़त्म करने की योजना बना चुके थे और अब उन्हें केवल सही मौक़े का इन्तज़ार था। जल्द ही इण्डोनेशिया में सरकार का तख़्तापलट किये जाने की अफ़वाहें फैलने लगीं। सेना के निचली पाँतों के अफ़सर जो सुहार्तो के प्रति वफ़ादारी रखते थे भड़कावे की इस कार्रवाई की चपेट में आ गये और उन्होंने 30 सितम्बर 1965 को कुछ शीर्ष जनरलों को गिरफ़्तार कर लिया। इस दौरान हुई मुठभेड़ में एक जनरल मारा गया। सेना जिस मौक़े का इन्तज़ार कर रही थी, उसे वह मौक़ा मिल गया। तख़्तापलट की इस कोशिश का सारा दोष पीकेआई के मत्थे मढ़ दिया गया और जल्द ही पूरे देश में कम्युनिस्टों और उनके समर्थकों के सफाये का भयानक ख़ूनी अभियान शुरू कर दिया गया।

महीनों तक पूरे इण्डोनेशिया में सेना के दस्ते, अपराधियों के गिरोह और जुनूनी प्रचार से भड़काये गये मुस्लिम कट्टरपंथियों के झुण्ड कम्युनिस्टों और उनसे किसी भी तरह की सहानुभूति रखने वालों का बर्बरता से क़त्लेआम करते रहे। औरतों, बच्चों, बूढ़ों किसी को नहीं बख्शा गया। प्रगतिशील विचार रखने वाले शिक्षकों, लेखकों, कलाकारों तक को मौत के घाट उतार दिया गया। लोगों के सिर धड़ से अलग करके बांस पर टाँगकर घुमाये गये। रेडक्रॉस इंटरनेशनल की रिपोर्ट के अनुसार लाशों के कारण महीनों तक कई इलाकों में नदियों का पानी लाल रहा और महामारी फैलने का ख़तरा मंडराता रहा। अब ऐसे दस्तावेज़ सामने आ चुके हैं जिनसे साफ है कि सीआईए ने कम्युनिस्टों और उनके हमदर्दों की सूचियाँ मुहैया करायी थीं। लेकिन इस आधी सदी के दौरान इतिहास के इस बर्बरतम जनसंहार पर पर्दा डालकर रखा गया है।

डिस्कवरी और हिस्ट्री चैनल जैसे साम्राज्यवादी भोंपू जो आये दिन स्तालिन और माओ को हत्यारा और तानाशाह घोषित करते रहते हैं वे कभी इस भयानक घटना का ज़िक्र भी नहीं करते। इण्डोनेशिया की साम्राज्यवाद परस्त हुकूमतों ने आधी सदी तक इस घटना का उल्लेख करने तक को अपराध बना दिया था। इसके बारे में न किसी अखबार में लिखा जा सकता था और न ही इसकी जाँच की माँग की जा सकती थी। लेकिन लाखों कम्युनिस्टों का ख़ून धरती में जज़्ब नहीं रह सकता। इण्डोनेशिया में इतिहास के इस ख़ूनी दौर से पर्दा उठने लगा है, ख़ामोशी टूटने लगी है।

जनसमर्थन और सांगठनिक विस्तार के नज़रिये से देखा जाये तो इण्डोनेशिया की कम्युनिस्ट पार्टी बेहद मज़बूत पार्टी थी लेकिन विचारधारात्मक तौर पर वह पहले ही खुद को नख-दन्तविहीन बना चुकी थी। असल में 1950 के दशक में ही उसने समाजवादी लक्ष्य हासिल करने का शान्तिपूर्ण रास्ता चुना। वर्ष 1965 तक उसने न सिर्फ़ अपने सशस्त्र दस्तों को निशस्त्र किया बल्कि अपना भूमिगत ढाँचा भी समाप्त कर दिया। विचारधारा के स्तर पर वह पूरी तरह सोवियत संशोधनवाद के साथ जाकर खड़ी हो गयी। उसने इण्डोनेशियाई राज्यसत्ता की संशोधनवादी व्याख्या प्रस्तुत की और दावा किया कि यहाँ के राज्य के दो पहलू हैं - एक प्रतिक्रियावादी और दूसरा प्रगतिशील। उन्होने यहाँ तक कहा कि इण्डोनेशियाई राज्य का प्रगतिशील पहलू ही प्रधान पहलू है। यह बात पूरी तरह ग़लत है और अब तक के क्रान्तिकारी इतिहास के सबक़ों के ख़िलाफ़ है। राज्य हमेशा से ही जनता के ऊपर बल प्रयोग का साधन रहा है। शोषकों के हाथों में यह एक ऐसा उपकरण है जिसके ज़रिये वह शोषणकारी व्यवस्थाओं का बचाव करते हैं। पूँजीवाद के अन्तर्गत प्रगतिशील पहलू वाले राज्य की बात करना क्रान्ति के रास्ते को छोड़ने के बराबर है। यह राजनीतिक लाइन पहले भी इतिहास में असफल रही है और एक बार फिर उसे ग़लत साबित होना ही था। लेकिन इस ग़लत राजनीतिक लाइन की क़ीमत थी 10 लाख कम्युनिस्टों की मौत और लाखों को काल कोठरी।

सीपीएम जैसे दोगले कम्युनिस्ट तो इस घटना को भूलकर उसी इंडोनेशियाई कम्पनी के साथ मिलकर पश्चिम बंगाल में पूँजी निवेश करा रहे थे जिसने इस जनसंहार में मदद की थी। लेकिन सच्चे कम्युनिस्टों को अपने लाखों कम्युनिस्ट भाई-बहनों के क़त्लेआम को कभी भूलना नहीं चाहिए। पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को बहे हुए ख़ून के एक-एक क़तरे का हिसाब चुकाना ही होगा।

- तपिश

सलवा जुडूम का नया संस्करण

अभी हाल ही में 5 मई को छत्तीसगढ़ के दांतेवाडा ज़िले में महेन्द्र कर्मा के बेटे छवीन्द्र कुमार ने सलवा जुडूम की ही तर्ज पर 'विकास संघर्ष समिति' की घोषणा की। राज्य द्वारा समर्थित और केन्द्र सरकार द्वारा पोषित 2005 में सलवा जुडूम की शुरुआत करते समय महेन्द्र कर्मा ने नक्सलवादियों से निपटने की जो बातें की थीं, कुछ उसी तरह की बातें उनके बेटे ने सलवा जुडूम के नये संस्करण यानी 'विकास संघर्ष समिति' की घोषणा करते समय फिर दोहरायी हैं। वैसे क्या इसे महज़ एक इत्तेफ़ाक समझा जाये कि यह घोषणा नरेन्द्र मोदी के दांतेवाड़ा दौरे के चार दिन पहले की गयी थी! दरअसल 9 मई को प्रधानमन्त्री मोदी ने विकास की लच्छेदार बातों की आड़ में कॉरपोरेटों को मालामाल करने की अपनी सरकार और पार्टी की नीति को आगे बढ़ाते हुए दांतेवाड़ा के एक गाँव में इस्पात प्लाण्ट समेत एक अन्य परियोजना का उद्घाटन किया। ज़ाहिर है इन तमाम परियोजनाओं को लागू करने के लिए बड़े पैमाने पर स्थानीय लोगों को उनकी जगह-ज़मीन से उजाड़ने और उनके किसी भी प्रकार के प्रतिरोध को कुचलने की ज़रूरत होगी और इसी ज़रूरत को पूरा करने के लिए नक्सलवाद से निपटने का बहाना बनाकर सलवा जुडूम को एक नये रूप में प्रस्तुत किया गया है।

ग़ौरतलब है कि वर्ष 2005 में छत्तीसगढ़ सरकार और टाटा तथा एस्सार जैसी कम्पनियों के बीच विकास परियोजनाओं को लेकर हुए समझौते के कुछ दिन बाद ही सलवा जुडूम की भी शुरुआत हुई थी। उस समय भी इन परियोजनाओं के लिए कम्पनियों को ज़मीन मुहैया कराने के लिए राज्य और केन्द्र सरकार ने जमकर सलवा जुडूम का सहारा लिया। सरकारों ने मीडिया के ज़रिये इस झूठ को ख़ूब ज़ोर-शोर से उछाला कि यह नक्सलवाद से निपटने का स्थानीय जनता का स्वत:स्फूर्त आन्दोलन है। बताया गया कि सलवा जुडूम (गोण्डी भाषा में इसका अर्थ शान्ति के लिए अभियान है) स्थानीय लोगों को नक्सलवाद के ख़तरे से वाक़िफ़ कराने और उससे निपटने का एक शान्तिपूर्ण जनजागरण अभियान है पर वास्तव में यह जनजागरण अभियान स्थानीय लोगों को उनकी ज़मीन से उजाड़ने का एक बर्बर उपक्रम था। सलवा जुडूम के लिए बाकायदा राज्य सरकार ने 6500 स्पेशल पुलिस अफ़सरों (एसपीओ) की तैनाती की। इनमें से अधिकतर स्थानीय आदिवासी बेरोज़गार और नाबालिग युवा थे जिन्हें पैसों का झाँसा देकर अपने ही लोगों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए तैयार किया गया। इन्हें सुरक्षा बलों द्वारा विशेष सैन्य प्रशिक्षण देने के साथ-साथ हथियारों से लैस किया गया। स्थानीय लोगों पर 'नक्सली' होने का लेबल चस्पाँ करके एसपीओ सुरक्षा बलों के साथ मिलकर उन्हें गिरफ़्तार करती। यही नहीं सभी क़ानूनों को ताक पर रखकर उनके घर जला दिये गये, उन्हें बर्बर यातनाएँ दी गयीं, उनकी हत्या की गयी और उनके परिवार की महिलाओं के साथ सामूहिक बलात्कार किया गया। अपनी ज़मीन से उजाड़कर इन स्थानीय लोगों को सलवा जुडूम कैम्पों में जाने के लिए मजबूर किया गया। इन कैम्पों की स्थितियाँ जेलों की तरह ही बेहद अमानवीय थीं जहाँ उजाड़े गये लोगों से बेगार कराया जाता। ग़ौरतलब है कि वर्ष 2005-2009 के बीच 640 गाँवों से लगभग 3.5 लाख स्थानीय लोगो को उजाड़ा गया। करीब 1 लाख लोग अपने गाँव छोड़कर आन्ध्र प्रदेश चले गये।

कुछ मानवाधिकार कार्यकर्ताओं और जनवादी संगठनों के हस्तक्षेप के बाद वर्ष 2011 में सुप्रीम कोर्ट ने सलवा जुडूम को ग़ैर-क़ानूनी और असंवैधानिक घोषित किया। लेकिन इसके बाद भी सलवा जुडूम अभी तक नये-नये रूपों में जारी है। वर्ष 2009 के बाद यह 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' के नाम से जारी रहा जिसे कोया कमाण्डों के ज़रिये संचालित किया गया। महेन्द्र कर्मा के बेटे छवीन्द्र कुमार द्वारा 'विकास संघर्ष समिति' की घोषणा भी इसी निरन्तरता की ही एक कड़ी है। सलवा जुडूम के इन सभी रूपों को सरकारी संरक्षण के अलावा उद्योगपतियों, स्थानीय ठेकेदारों की सरपरस्ती भी प्राप्त है। यह अनायास नहीं है कि नरेन्द्र मोदी की सरकार बनने के बाद दांतेवाड़ा में अर्द्धसैनिक बलों की संख्या 21 कम्पनी और बढ़ायी गयी है। सरकारें विकास के नाम पर जितने बड़े पैमाने पर लोगों को जगह-ज़मीन से उजाड़ रही है उसके परिणामस्वरूप उठने वाले जन असन्तोषों से निपटने की तैयारी के लिए ही लगातार पुलिस, सेना, अर्द्धसैनिक बलों की संख्या में भी बढ़ोतरी की कवायदें की जा रही हैं। दांतेवाड़ा में अर्द्धसैनिक बलों की हालिया बढ़ोतरी को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए।

यहाँ एक और बात पर ग़ौर करने की ज़रूरत है। आमतौर पर देखा जाता है कि विकास के नाम पर उजड़ने वाले लोगों के पक्ष में खड़े होने वाली ताक़तों को सरकारें तथा राज्यसत्ता के तमाम अंग विकास विरोधी घोषित करते हैं। कॉरपोरेट मीडिया भी इसी सुर में सुर मिलाकर इस धारणा के पक्ष में जनमत निर्मित करता है। ज़ाहिरा तौर पर पूँजीवाद उत्पादक शक्तियों के विकास करने की प्रक्रिया में बड़े पैमाने पर स्वतन्त्र उत्पादकों को उजाड़ता है और उन्हें सामूहिक श्रम की व्यवस्था के अन्तर्गत ले आता है। हालाँकि सामूहिक श्रम की व्यवस्था होते हुए भी चूँकि निजी सम्पत्ति की व्यवस्था मौजूद रहती है इसलिए मेहनतकशों द्वारा सामूहिक तौर पर सृजित सम्पदा का संकेन्द्रण निजी हाथों में होता चला जाता है। इस तरह व्यापक मेहनतकश आबादी के हिस्से विकास की जूठन ही पहुँच पाती है। सवाल विकास के पक्ष या विपक्ष में खड़े होने का है ही नहीं। मुख्य सवाल तो यह है कि विकास निजी हितों के लिए हो रहा है या बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी के हितों को ध्यान में रखकर हो रहा है। पूँजीवाद में निजी हितों के लिए होने वाले विकास की क़ीमत अक्सर ही मेहनतकशों को चुकानी पड़ती है। सलवा जुडूम उसी का ही एक उदाहरण है।

- श्वेता

हथियारों और युद्ध सामग्री के उद्योग पर टिकी अमेरिकी अर्थव्यवस्था

पिछले कुछ दशकों से अमेरिका की स्थिति विश्व की सबसे बड़ी सैन्य ताक़त और युद्ध सामग्री के उद्योगपति के रूप में अभी भी बरकरार है, हालाँकि 2007 की महामन्दी के बाद अमेरिकी अर्थव्यवस्था बुरी तरह तबाह हुई है और लगातार पतन की ओर जा रही है। लेकिन अमेरिकी युद्ध सामग्री और हथियारों के उद्योग में अभी भी भारी पैमाने पर उत्पादन जारी है जो कि विश्व के सबसे बड़े हथियार उद्योग के तौर पर स्थापित है और दिनों-दिन पतन की ओर जा रही अमेरिकी अर्थव्यवस्था की आजकल यही मुख्य टेक बना हुआ है। यह बात पूँजीवाद के घोर मानवता विरोधी पक्ष को उभारती है।

अमेरिका के हथियार और युद्ध सामग्री बनाने के उद्योग का विकास और विश्व की बड़ी सैन्य ताक़त बनने के कारणों की यदि हम पड़ताल करते हैं तो इसके तार दूसरे विश्वयुद्ध से जा जुड़ते हैं, क्योंकि दूसरे विश्वयुद्ध से पहले अमेरिका कोई बड़ी आर्थिक और सैन्य ताक़त नहीं था। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ही अमेरिका विश्व की बड़ी आर्थिक और सैन्य ताक़त के रूप में उभरा। दूसरे विश्वयुद्ध में जब इंग्लैण्ड, जर्मनी, जापान आदि विश्व की महा-शक्तियाँ तबाह हो गयीं तो उसके बाद अमेरिका का सूरज चमका। इस विश्वयुद्ध में हथियारों और अन्य युद्ध सामग्री का बड़े स्तर पर प्रयोग हुआ जिसके कारण अमेरिकी हथियार उद्योग के अथाह मुनाफ़ा कमाने का दौर शुरू हुआ क्योंकि युद्ध ने मण्डी में युद्ध सामग्री की भारी माँग पैदा कर दी थी। इतना ही नहीं बल्कि तबाह हुए यूरोप में पुनर्निर्माण के लिए अमेरिकी पूँजीपतियों ने बड़े निवेश किये जिसके द्वारा अमेरिका ने तबाह हुए देशों में से भारी मुनाफ़े कमाये। इस युद्ध ने अस्थिर अमेरिकी अर्थव्यवस्था को गति दी। दूसरा विश्वयुद्ध ही अमेरिकी हथियार उद्योग को ऊपर उठाने वाला पहला स्रोत है। इसके बाद ही 50-60 के दशकों के दौरान कल्याणकारी राज का दौर शुरू होता है जिसको याद करके आज के कुछ "प्रगतिशील" लोग भी पीछे देख-देखकर और दुखी होते रहते हैं। यह कल्याणकारी राज भी सैन्य उद्योग कॉम्प्लैक्स के आधार पर ही खड़ा किया गया था। इसी कारण 1940-49 के दौरान जहाँ अमेरिका की कुल औद्योगिक पैदावार 90 प्रतिशत बढ़ी तो हथियार उद्योग में भी 60 प्रतिशत का इज़ाफ़ा हुआ। विश्व औद्योगिक पैदावार में से अकेले अमेरिका ने 40वें दशक के दौरान 60 प्रतिशत कमाई की। जब दूसरा विश्वयुद्ध करोड़ों लोगों को निगल रहा था तो अमेरिकी पूँजीपति मानवता के इस महा-विनाश के मंजर पर अपने महल बनाने के सपनों में संलग्न थे। यह बात किसी संवेदनशील मनुष्य को झंझोड़ सकती है लेकिन पूँजीपति देखने में ही मानव जैसा होता है और वास्तव में वह मनुष्य मांस खाने वाला भेड़िया होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो उसकी वर्गीय स्थिति उसको इस तरह का बना देती है।

अमेरिकी राष्ट्रपति डेविड आइजनहावर जब से सेना का जनरल था तब से ही हथियार उद्योग की तरक्की पर ज़ोर देता आ रहा था। 27 अप्रैल, 1946 को उसने (तब वह सेना का जनरल था) युद्ध विभाग के डायरेक्टरों, चीफ़ों, जनरलों आदि को मेमोरण्डम जारी किया था जिसमें "सभी वैज्ञानिक और तकनीकी साधनों को सेना की सम्पत्ति बनाने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया गया था। 1953 ई. में अमेरिका का राष्ट्रपति बनते ही उसने हथियार उद्योग के विकास के लिए यत्न आरम्भ किये, हालाँकि ये यत्न आइजनहावर की निजी इच्छा का नतीजा नहीं कहे जा सकते। कह सकते हैं कि उस समय के अमेरिकी पूँजीवाद के उस ग्रुप के - जिनकी बड़ी पूँजी हथियार उद्योग में लगी हुई थी - राजनैतिक हितों का आइजनहावर प्रतिनिधि बनकर आया। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान ही अमेरिका ने हथियार, युद्ध और रक्षा उद्योग में बड़े निवेश करने शुरू किये क्योंकि विश्व मण्डी का अहाता अमेरिकी पूँजीपतियों के लिए ख़ाली था, इस कारण अमेरिकी उद्योग ने बहुत तीव्रता से विकास किया। दूसरा तब समाजवाद का डर विश्व साम्राज्यवादियों को डरा रहा था जो दूसरे विश्वयुद्ध से विजेता होकर निकला था और लगातार विकास कर रहा था। सोवियत यूनियन को टक्कर देने के लिए और विश्व स्तर पर उठ रहे समाजवादी खेमे को कुचलने के लिए साम्राज्यवादियों को अत्याधुनिक हथियारों की सख़्त ज़रूरत थी। इसके अलावा दूसरे विश्वयुद्ध में हथियारों की बड़ी खेपें खपी थीं। इन वजहों ने मण्डी में युद्ध सामग्री की अथाह माँग पैदा की लेकिन साथ ही बड़ी वैश्विक शक्तियों के तबाह होने ने अमेरिका को मौक़ा मुहैया करवाया।

1961 ई. में आइजनहावर ने अपने विदाई भाषण में भी "मिलिटरी इण्डस्ट्रियल कम्पलैक्स" बनाने की ज़रूरत पर ज़ोर देते हुए सेना और उद्योग की स्थायी एकता की ज़रूरत पर ज़ोर दिया, अपने राष्ट्रपति काल के दौरान भी उसने अमेरिकी हथियार उद्योग की हरसम्भव मदद की। उसने कहा कि विज्ञानियों को सैन्य समस्याओं के हल खोजने के लिए ज़्यादा आज़ादी होनी चाहिए। उसकी योजना का यह पक्ष था कि सेना देश के उद्योग और तकनीक के बड़े हिस्से को जज़्ब कर सकती है, भाव यह कि इस सैन्य क्षेत्र में वह अमेरिकी पूँजीपतियों को निवेश के लिए न्योता देता है। अमेरिका के एआरपीए (एडवांस रिसर्च प्रोजेक्ट्स एजेंसी), एनएएसए (नेशनल ऐरोनेटिक्स एण्ड स्पेस एजेंसी) आदि संस्थाओं की स्थापना भी उसके कार्यकाल के दौरान ही हुई। तब ही एण्टी बैलिस्टिक मिसाइल और जीपीएस आदि के आधुनिक

आविष्कारों पर काम होने लगा। 1952 ई. में अमेरिका के कुल बिजली उद्योग का 56.2 प्रतिशत सैन्य उद्योग में उपभोग हुआ। उसके बाद अमेरिका का सैन्य उद्योग अमेरिकी राजनीति को भी प्रभावित करने लगा और उसके बाद बनने वाले सभी राष्ट्रपतियों ने उनके हितों की चौकीदारी की, जैसे रीगन ने 1980 में अमेरिकी हथियार उद्योग को टैक्सों में भारी छूटें दीं और यह होना स्वाभाविक ही था क्योंकि राजनीति अर्थव्यवस्था का ही घनीभूत अभिव्यक्ति होती है।

आज तकनीक का विकास बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँच चुका है। एक दिन में उद्योग में टनों के हिसाब से हथियारों और अन्य युद्ध सामग्री की पैदावार होती है। जिसके कारण अमेरिकी उद्योग ने विश्व में हथियारों के अम्बार लगा दिये हैं। अमेरिका के हथियारों की पैदावार 1950 के दशक से विस्तारित होनी शुरू होकर आज इतनी विस्तृत हो चुकी है कि इसको आज पूरा विश्व भी छोटा लगने लगा है। 2009 में अमेरिका ने हथियारों की कमाई से कुल घरेलू पैदावार का 3 प्रतिशत कमाया था जोकि 2011 में बढ़कर 67 अरब डॉलर हो गया और कुल घरेलू पैदावार में इसका हिस्सा 6 प्रतिशत तक पहुँच गया। लेकिन यह केवल युद्ध सामग्री के निर्यात का संख्या है। लेकिन यदि एनएएसए (नेशनल ऐरोनेटिक्स एण्ड स्पेस एजेंसी), एफएए (फ़ेडरल एविएशन एडमिस्ट्रेशन), डीएआरपीए (डिफ़ेंस एडवांस रिसर्च प्रोजेक्ट्स एजेंसी), डीओडी (डिफ़ेंस डिपार्टमेण्ट), डीटेशन, नेविगेशन, गायडैंस, ऐरोनेटीकल एण्ड न्यूटीकल व्यवस्था, इम्प्रूवमेण्ट ओपरेशन शिपयार्ड, स्माल आर्म्ड, मिलटरी व्हीकल मैनुफ़ेक्चरिंग, वायरलेस आर्डीनेंस मैनुफ़ेक्चरिंग और सभी सैन्य उद्योग की कुल पैदावार और इन उद्योगों से जुड़े अन्य उद्योग जो इनको कच्चा माल मुहैया करवाते हैं, इनसे जुड़ा रियल इस्टेट का कारोबार, यातायात का कारोबार, रसायन विज्ञान आदि को मिला लिया जाये और इन अदारों में काम करते कामगारों की कमाई को जोड़ें तो यह हिस्सा अमेरिका की कुल घरेलू पैदावार का लगभग 50 प्रतिशत से भी अधिक बनता है। इन संस्थाओं में अमेरिका के लगभग 21 लाख कामगार काम करते हैं। 2010 में अमेरिकी ऐरोस्पेस एण्ड डिफ़ेंस कम्पनियों को 370 अरब डॉलर की आमदनी हुई थी। इसके बिना 2011 में विश्व के हथियारों की कुल बिक्री का 44 प्रतिशत अकेले अमेरिका ने कमाया था। इससे हम अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि पूँजीवाद की मरणासन्नता यहाँ तक पहुँच चुकी है जो मानवीय श्रम को हथियारों जैसे उद्योग में नये-नये "कीर्तिमान स्थापित करने के लिए इस्तेमाल कर रहा है और उत्पादक मानवीय श्रम को बेकार गँवा रहा है जब कि दूसरी ओर ग़रीबी, भुखमरी, कंगाली से करोड़ो लोग बेहाल हैं, उनकी तरफ़ किसी का ध्यान तक नहीं जाता क्योंकि ग़रीबों से पूँजीपतियों को मुनाफ़े की कोई आशा नहीं।

आज विश्व की बड़ी हथियार बनाने वाली कम्पनियों में बहुसंख्या अमेरिकी कम्पनियों की हैं। विश्व की दस बड़ी हथियार बनाने वाली कम्पनियों में 7 अमेरिकी हैं जिनमें बोइंग (2013 में जिसकी कुल जायदाद 92 अरब अमेरिकी डॉलर थी), युनाइटेड टेकनोलोजीज (2013 में कुल जायदाद 61.46 अरब अमेरिकी डॉलर), लोकहीड मार्टिन (2013 में कुल जायदाद 36.19 अरब अमेरिकी डॉलर), जनरल डायनामिक्स (2013 में कुल जायदाद 35.45 अरब अमेरिकी डॉलर), नॉरथ्रॉप ग्रूमन (2013 में कुल जायदाद 26.39 अरब अमेरिकी डॉलर), रेथीऔन (2013 में कुल जायदाद 25.86 अरब अमेरिकी डॉलर) और एल. कम्यूनिकेशंस (2013 दौरान कुल जायदाद 15 अरब अमेरिकी डॉलर) आदि प्रमुख कम्पनियाँ हैं। अमेरिकी राजनीति में आज इन औद्योगिक घरानों की तूती बोलती है और विश्व स्तर पर वातावरण, अमन और लोकतन्त्र आदि जुमलों की चीख़-पुकार मचाने वाली अनेकों ग़ैर-सरकारी संस्थाओं को करोड़ों डॉलर फ़ण्ड भी मुहैया करवाते हैं जिससे साम्राज्ञी जब अपने हथियारों को खपायें तो ऐसी संस्थाएँ लोग के गुस्से को ठण्डा रखें।

हथियारों पर टिके अमेरिकी अर्थव्यवस्था से हम अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि अमेरिका में पूँजीवाद का परजीवीपन इस हद तक पहुँच गया है जो आख़िरी साँस इसी उद्योग के सहारे ले रहा है जो पैदावार करते समय तो आम कामगार लोगों का ख़ून चूसती ही है बल्कि जिसकी पैदावार जब खपती है तो आम कामगार लोगों का ख़ून बहाती भी है। विश्व में युद्ध सामग्री के उद्योग का प्रफुल्लित होना मानवता के लिए आने वाले अँधेरे दिनों का संकेत दे रहा है। क्योंकि पूँजीवादी पैदावार में पैदावार के साथ उसका ख़र्च का होना भी उतना ही लाज़िमी है नहीं तो उद्योग लम्बे समय चल ही नहीं सकता। तो हथियारों के उद्योग के चलते रहने के लिए हथियारों को इस्तेमाल करना भी उतना ज़रूरी है। इसी कारण ही अमेरिका विश्व अमन और लोकतन्त्र का "हरकारा" बना हुआ है, कभी पाकिस्तान, अफ़गानिस्तान में "अमन" फैलाने के लिए दौड़ता है कभी ईरान, इराक़, लीबिया, मिस्र आदि मध्य-पूर्वी देशों में। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ही जब अमेरिकी हथियार उद्योग में पैदावार बढ़ी तो इसने कोरिया, वियतनाम, इण्डोनेशिया से लेकर ईरान, इराक़, सोमाल्या, यमन, सर्बिया, लीबिया, पाकिस्तान, अफ़गानिस्तान आदि अनेकों देशों पर जबरन लड़ाइयाँ थोप दीं और इन देशों में भारी जानी-माली नुक़सान किया और कर रहा है। लेकिन अब जिस स्तर पर तकनीक पहुँच चुकी है इन छोटी-मोटी जंगों से भी हथियार उद्योग की पैदावार नष्ट नहीं हो सकती। जिस करके यह उद्योग भी धीरे-धीरे संकट के शिकार होने की ओर बढ़ रहा है। दूसरे, किसी समय रूस और चीन अमेरिका के हथियारों और युद्ध सामग्री के बड़े ख़रीदार थे लेकिन अब इन देशों में हथियार उद्योग विकसित हो चुका है और चीन तो हथियारों की पैदावार में बहुत थोड़े समय में ही मज़बूत स्थिति में पहुँच गया है। इस कारण अमेरिका के ग्राहक चुक रहे हैं।

ये बातें मानवता के लिए अँधेरे दिनों की आहट हैं जिसका हल विश्व के कामगार, संवेदनशील लोगों और नौजवानों की एकता के साथ ही सम्भव है, नहीं तो ये ख़ून पीने वाली जोंकें अपने मुनाफ़ों के लिए मानवता पर तीसरा विश्वयुद्ध थोपने से भी गुरेज़ नहीं करेंगी।

- कुलदीप

दूसरे विश्वयुद्ध के समय हुए सोवियत–जर्मन समझौता के बारे में झूठा प्रोपेगैण्डा

दूसरे विश्वयुद्ध के शुरू होने से बिल्कुल पहले सोवियत यूनियन और जर्मनी के बीच हुआ 'एक–दूसरे पर हमला न करने का समझौता' आज तक समाजवाद के दुश्मनों के लिए बेसिर–पैर का प्रोपेगैण्डा करने का मुद्दा बना हुआ है। समूचे विश्व के पूँजीवाद के दलालों, बौद्धिक टुकड़ख़ोरों की पूरी जमात लगी हुई है कि किसी न किसी तरह वह सोवियत समाजवाद को दूसरे विश्वयुद्ध की शुरुआत करनेवाला सिद्ध करने में कामयाब हो जायें, कामगार लोगों के सपने को घृणित फासीवाद के समान और स्तालिन को हिटलर के समान पेश कर सकें और अपने आकाओं के फासीवाद के साथ "जायज़ सम्बन्धों" को छिपा सकें, लेकिन इतिहास के तथ्य झूठों के धुँए में दबाये नहीं जा सकते। पहले शीत युद्ध में अमेरिका की अगुवाई वाले साम्राज्यवादी वर्ग और ख़ुश्चेवी सोवियत संशोधनवादियों के लिए समाजवादी दौर के इतिहास को झुठलाना मजबूरी थी, सोवियत यूनियन के टूटने के बाद यह ज़हर पूर्वी यूरोप के "आज़ाद" हुए देशों के हुक्मरानों को निगलना पड़ा। लेकिन अब आर्थिक संकट की मार झेल रहे और मेहनतकशों की किसी भावी बड़ी राजनैतिक सक्रियता से डरे और साथ ही अपने प्रतिद्वन्द्वी और विरोधी रूस के ख़िलाफ़ निन्दा प्रचार करने के लिए विश्वयुद्ध से जुड़े झूठों का प्रचार विश्व पूँजीवाद की ओर से फिर से हो रहा है। हम यहाँ सोवियत–जर्मन समझौते तक हुए घटनाक्रम को तथ्यों सहित देखेंगे, कि फ़्रांस और ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हुक्मरान इतिहास के इस काल में क्या कर रहे थे, जिस काल के बारे सभी पूँजीवादी टुकड़ख़ोर ख़ामोश रहते हैं।

हिटलर के सत्ता सँभालने से सोवियत–जर्मन समझौते तक का घटनाक्रम

1933 में जर्मनी में नाजियों द्वारा सत्ता पर क़ब्ज़ा करने से पहले ही सोवियत यूनियन लगातार फासीवाद के ख़तरे के बारे में चेतावनियाँ दे रहा था। 1933 में हिटलर जर्मनी का चांसलर बना और उसके सत्ता सँभालने के साथ ही जर्मनी की ओर से जंगी तैयारियाँ शुरू हो गयीं, जिसे साम्राज्यवादी ताक़तों जैसे ब्रिटेन, फ़्रांस और अमेरिका ने अनदेखा किया। जनवरी, 1933 में हिटलर सत्ता सँभालता है और तुरन्त बाद ब्रिटेन और फ़्रांस ने इटली से मिलकर जर्मनी के साथ समझौता करने के यत्न आरम्भ कर दिये। 7 जून को शुरू हुई वार्ताओं के बाद 15 जुलाई, 1933 को इनके बीच चार शक्तियों के बीच समझौते पर हस्ताक्षर हुए। यह उस समय हो रहा था जब पूरी दुनिया में फासीवाद के ख़तरे को लेकर डर था और इसके ख़िलाफ़ संघर्ष लामबन्द करने के यत्न हो रहे थे। इटली में बेनिटो मुसोलिनी 1925 से सत्ता में था और फासीवादियों के द्वारा वहाँ के लोगों पर किये जा रहे अकथनीय जुल्मों और क़त्लेआमों से पूरी दुनिया में रोष था। इसके बावजूद फ़्रांस और ब्रिटेन के हुक्मरान इन देशों के साथ चौमुखा समझौता कर रहे थे। लेकिन फ़्रांस और ब्रिटेन का फासीवादियों और नाजियों के साथ साझेदारी का स्वप्न पूरा न हो सका, क्योंकि फ़्रांस की पार्लियामेण्ट ने सार्वजनिक दबाव के चलते समझौते की पुष्टि करने से मना कर दिया। इसी समझौते ने बाद में बदनाम म्यूनिख समझौते के लिए भूमिका का काम किया। ऐसा नहीं है कि उस समय तक हिटलर ने अपने काम शुरू नहीं किये थे, नाजियों ने तो अपने रंग सत्ता में आने से पहले ही दिखला दिये थे। 20 मार्च, 1933 को जर्मनी का पहला नाजी यातना कैम्प क़ायम किया जा चुका था, फिर 23 मार्च को हिटलर ने ख़ुद को जर्मनी का तानाशाह ऐलान दिया, 1 अप्रैल को जर्मन लोगों को यहूदी दुकानों का बहिष्कार करने का हुक्म सुनाया जा चुका था, 26 अप्रैल को बदनाम नाजी खुफ़िया पुलिस गेस्टापो की स्थापना की गयी, 2 मई को जर्मनी में ट्रेड यूनियनों पर पाबन्दी लगा दी गयी, 21 जून को बाक़ी सभी राजनैतिक पार्टियों को ग़ैर–क़ानूनी घोषित कर दिया गया। समझौते के बाद हालत और भी बिगड़ने लगी। नाजी विरोधी बुद्धिजीवियों और विज्ञानियों को निशाना बनाया जाने लगा, निष्कर्ष के तौर पर आइंस्टीन जैसे विज्ञानियों को इसी साल जान बचाकर जर्मनी से भागना पड़ा। लेकिन इस सबके बावजूद फ़्रांस और ब्रिटेन के हुक्मरानों ने हिटलर के प्रति अपनी "हमदर्दी" में कोई कमी नहीं होने दी और आज यह साम्राज्यवाद के पिट्ठू यहूदी–प्रेम दिखाते हुए मगरमच्छ के आँसू बहाते हैं और नाजियों के जुल्मों और लोकतन्त्र की बर्बादी की बात करते हैं, लेकिन शर्म है कि इनको आती नहीं।

फिर नाजी जर्मनी ने पहले विश्वयुद्ध के बाद हुई वर्साय सन्धि की सैनिक धाराओं का सरेआम उल्लंघन करना शुरू किया, उसने बड़ी हथियारबन्द सेना खड़ी करने की योजना पर काम शुरू किया लेकिन किसी भी साम्राज्यवादी ताक़त ने हिटलर का कोई विरोध नहीं किया। ब्रिटेन के हुक्मरान तो इससे भी एक क़दम और आगे गये। ब्रिटेन ने 18 जून, 1935 को जर्मनी के साथ "जलसेना समझौता' किया जिसके अन्तर्गत हिटलर को अपनी जलसेना खड़ी करने का अधिकार मिला, इससे पहले वरसायी की सन्धि के अधीन जर्मनी पर जलसेना सम्बन्धित बहुत से प्रतिबन्ध थे। ब्रिटेन ने न सिर्फ़ जर्मनी से प्रतिबन्ध हटाये, बल्कि उसने ताक़तवर नौसेना बनाने के लिए जर्मनी की तकनीकी और वित्तीय मदद का भी ऐलान किया। इसके विरोध में फ़्रांस ने सिर्फ़ शाब्दिक जुगाली तो की लेकिन कोई भी क़दम नहीं उठाया। फिर मार्च, 1936 में हिटलर ने हथियार–रहित क्षेत्र "राइनलैण्ड में सैनिक तैनाती शुरू कर दी। यह फ़्रांस के लिए ख़तरे की घण्टी था, लेकिन ब्रिटेन और फ़्रांस समेत सभी पश्चिमी ताक़तों ने नाजियों को रोकने की जगह शह दी, यहाँ तक कि फ़्रांस ने फ़्रांस–पोलैण्ड सैनिक समझौते के अन्तर्गत इस मसले पर जर्मनी के ख़िलाफ़ साझी सैनिक कार्यवाही करने की पोलैण्ड की तरफ़ से की गयी पेशकश को ठुकरा दिया, कारण साफ़ था। साम्राज्यवादियों का मुख्य मकसद यूरोप और पूरे विश्व में बढ़ रहे "लाल ख़तरे" के ख़िलाफ़ हिटलर को इस्तेमाल करना था, इस मकसद की पूर्ति के लिए वह इतने अन्धे होकर काम कर रहे थे कि हिटलर को हर तरह की छूट देने के लिए तैयार थे, बशर्ते कि वह सोवियत यूनियन पर हमला करे। 1935 के शुरू में सोवियत यूनियन ने फ़्रांस को नाजियों के ख़िलाफ़ दो–तरफ़ा समझौते की पेशकश की जिस पर फ़्रांस के विदेश मन्त्री लुईस बरथोऊ के नेतृत्व में फ़्रांस की तरफ़ से बातचीत शुरू की गयी लेकिन लुईस बरथोऊ का क़त्ल कर दिया गया। उसके बाद फ़्रांस की तरफ़ से बातचीत में कोई रुचि नहीं दिखायी गयी, फिर जब हिटलर ने ताक़तवर सेना खड़ी करने का ऐलान किया तो एक बार फिर सार्वजनिक दबाव के चलते फ़्रांस की सरकार ने सोवियत यूनियन के साथ बातचीत दोबारा शुरू की। मई, 1935 में फ़्रांस ने सोवियत यूनियन के साथ आपसी सहायता का समझौता किया लेकिन पार्लियामेण्ट की तरफ़ से इसकी पुष्टि मार्च, 1936 में की गयी जब नाजी जर्मनी ने राईनलैण्ड क्षेत्र को हथियारबन्द करना शुरू किया। लेकिन फ़्रांस के साम्राजयवादी हुक्मरान अभी भी जर्मनी के लिए हमदर्दी से भरे हुए थे। उन्होंने सोवियत यूनियन के साथ समझौतों में सैनिक सहायता की धारा शामिल करने से मना कर दिया, जिसके कारण यह समझौता बस नाम का ही था।

ब्रिटेन, फ़्रांस और अमेरिका ने अपने इरादे और स्पष्ट तब कर दिये जब उन्होंने स्पेन की घरेलू लड़ाई में "निष्पक्षता की नीति" अपनाने का ऐलान किया। 17 जुलाई, 1936 को जनरल फ़्रांसिस्को फ़्रांको के नेतृत्व के अधीन स्पेनी फासीवादियों ने लोकतान्त्रिक गणराज्य के ख़िलाफ़ बग़ावत खड़ी कर दी, जिसके निष्कर्ष के तौर पर स्पेनी घरेलू जंग शुरू हुई। यह जंग वास्तव में दूसरे विश्वयुद्ध का अभ्यास था। हिटलर और मुसोलिनी ने तुरन्त फ़्रांको को अपनी हिमायत का ऐलान कर दिया और सैनिक साजो–सामान समेत हवाई जहाज़, टैंकों और तोपों के साथ सैनिक टुकड़ियाँ और सैनिक माहिर फ़्रांको की मदद के लिए भेजने शुरू कर दिये। दूसरी तरफ़ गणराज्य के समर्थकों को अन्तरराष्ट्रीय मदद देने वाले सिर्फ़ सोवियत यूनियन और मैक्सिको थे। अमेरिका और ब्रिटेन ने पूरी बेशर्मी के साथ लोकतन्त्र– समर्थकों को कोई भी मदद देने से न सिर्फ़ इनकार ही कर दिया, बल्कि निष्पक्षता का दिखावा करते हुए दूसरे देशों को कोई भी मदद भेजने से रोका। फ़्रांस ने शुरू में गणराजवादियों की मदद करने की कोशिश की लेकिन ब्रिटेन और अमेरिका और साथ ही फ़्रांस के घरेलू फासीवादियों ने ऐसी कोई भी मदद भेजने का सख्त विरोध किया। 21 जुलाई, 1936 को ब्रिटेन और अमेरिका ने फ़्रांस को "निष्पक्षता का समझौता" करने के लिए मजबूर किया। इसके बाद इन देशों ने गणराज पक्ष को पहुँचने वाली अन्तरराष्ट्रीय सहायता के रास्ते में भी काँटे बिछाये और कितनी ही सहायता पहुँचने ही नहीं दी। फ़्रांको के फासीवादी टोलों और जर्मनी–इटली की सैनिक जुण्टा ने स्पेन में भयंकर सैन्य अपराधों को अंजाम दिया। इन अपराधों में गुएर्निका शहर पर की गयी बमबारी भी शामिल है जिसकी तुलना ड्रैस्डन शहर पर की गयी "कारपेट बमबारी" और हिरोशिमा पर अमेरिकियों की तरफ़ से फेंके गये परमाणु बम के साथ की जाती है। निहत्थे शहरियों पर योजनाबद्ध हवाई हमलों का यह शायद पहला उदाहरण था। इस बमबारी को देखकर ही मशहूर चित्रकार पाब्लो पिकासो ने अपनी युद्ध–विरोधी अमर कृति बनायी। लेकिन इस सब कुछ के बावजूद "लोकतन्त्र के ठेकेदारों" ने स्पेन के लोकतन्त्र–समर्थकों की कोई मदद करने से इनकार कर दिया, जबकि दुनियाभर से, ब्रिटेन सहित, फ़्रांस और अमेरिका से आम लोग, लेखक, विज्ञानी वालंटियर बनकर फासीवादियों के ख़िलाफ़ लड़ने जा रहे थे।

लेकिन साम्राज्यवादियों ने अभी बेशर्मी की और हदें पार करनी थीं। 1938 के साल के दौरान नाजी जर्मनी ने एक देश के बाद दूसरे देश पर क़ब्ज़ा किया जिसमें ब्रिटेन, फ़्रांस और अमेरिका ने उसकी पूरी मदद की। दूसरी ओर इटली भी यही काम कर रहा था। 12 मार्च, 1938 को नाजियों ने आस्ट्रिया पर क़ब्ज़ा कर लिया और चेकोस्लोवाकिया की घेराबन्दी शुरू कर दी। हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया को कई क्षेत्र जर्मनी के हवाले करने के लिए धमकाना शुरू कर दिया और ऐसा न करने की सूरत में हमले की धमकी दी। लेकिन ऐसा करना जर्मनी के लिए आसान न था, क्योंकि चेकोस्लोवाकिया के साथ फ़्रांस और सोवियत यूनियन का आपसी मदद का समझौता था। दूसरी ओर ब्रिटेन और फ़्रांस किसी भी क़ीमत पर चेकोस्लोवाकिया पर हिटलर का क़ब्ज़ा होने देना चाहते थे, जिससे हिटलर को सोवियत यूनियन के और ज़्यादा से ज़्यादा नज़दीक धकेला जा सके और जर्मनी द्वारा सोवियत यूनियन पर हमलों के रास्ते में ज़मीनी स्तर की सभी रुकावटों को ख़त्म किया जा सके। ब्रिटेन और फ़्रांस ने चेकोस्लोवाकिया पर हिटलर की माँगें मानते हुए समझौता करने के लिए दबाव बनाया जिससे यूरोप में "अमन" बरकरार रह सके। 29–30 सितम्बर, 1938 को म्यूनिख में ब्रिटेन और फ़्रांस ने इटली और जर्मनी के साथ साझा वार्तालाप करके "म्यूनिख" समझौते के अन्तर्गत चेकोस्लोवाकिया के जर्मनी की तरफ़ से माँगे जा रहे क्षेत्र हिटलर के हवाले कर दिये। हैरानी इस बात की रही कि चेकोस्लोवाकिया को इस बातचीत में बुलाया ही नहीं गया और न ही सोवियत यूनियन को, बेशक सोवियत यूनियन की फ़्रांस के साथ सन्धि थी। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ने पूरी बेशर्मी के साथ म्यूनिख समझौते की "शाश्वत अमन" की गारण्टी कहकर तारीफ़ की। इसी समय सोवियत यूनियन विशाल अन्तरराष्ट्रीय कॉन्फ़्रेंस बुलाकर जर्मनी के हमलों को रोकने की अपीलें कर रहा था, लेकिन साम्राज्यवादियों के इरादे कुछ और थे। एक बार चेकोस्लोवाकिया में पैर रखने के बाद हिटलर ने समूचे चेकोस्लोवाकिया पर क़ब्ज़ा करने में देर नहीं की। फ़्रांस ने चेकोस्लोवाकिया के पक्ष में सिर्फ़ बयान दिये, लेकिन सैन्य मदद की कोई पेशकश नहीं की। सोवियत यूनियन ने चेकोस्लोवाकिया में अपनी सेना भेजने की तजवीज रखी, लेकिन चेकोस्लोवाकिया के पूँजीपतियों की सरकार ने नाजियों के क़ब्ज़े को सोवियत मदद से बेहतर समझा क्योंकि समाजवाद पूँजीपतियों के लिए फासीवाद से

(पेज 12 पर जारी)

दूसरे विश्वयुद्ध के समय हुए सोवियत–जर्मन समझौता के बारे में झूठा प्रोपेगैण्डा

पेज 11 से आगे)

बड़ा ख़तरा था। अकेले सोवियत यूनियन ने हिटलर के चेकोस्लोवाकिया पर क़ब्ज़े को क़ानूनी मान्यता देने से इनकार किया। फिर जर्मनी ने रोमानिया को अपने अधीन कर लिया, इटली ने अल्बानिया पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद जर्मनी पोलैण्ड पर हमले की योजना बना रहा था, लेकिन फ़्रांस और ब्रिटेन "निष्पक्ष" थे।

1939 के साल में जब जर्मनी, इटली और जापान की मुख्य शक्तियाँ दुनिया को दूसरे विश्वयुद्ध की तरफ़ खींचने के लिए जीजान से लगी हुई थीं, तो फासीवादी हमलों को रोकने और फासीवादी हमलों के साथ निपटने के लिए सोवियत यूनियन ने छह बार ब्रिटेन, फ़्रांस और अमेरिका को आपसी समझौते के लिए पेशकशें कीं, लेकिन साम्राज्यवादियों ने लगातार इन अपीलों को ठुकराया। दूसरी और इन देशों में जनमत और ज़्यादा से ज़्यादा सोवियत यूनियन के साथ समझौता करने के पक्ष में झुकता जा रहा था। अप्रैल, 1939 में ब्रिटेन में हुए एक मतदान में 92 प्रतिशत लोगों ने सोवियत यूनियन के साथ समझौते के पक्ष में वोट दिया। आख़िर 25 मई, 1939 को ब्रिटेन और फ़्रांस के हुक्मरानों को सोवियत यूनियन से बातचीत शुरू करने के लिए मजबूर होना पड़ा। लेकिन यह बातचीत दिखावे की थी, फ़्रांस और ब्रिटेन का सोवियत यूनियन से समझौता करने का कोई इरादा नहीं था, क्योंकि बातचीत के लिए भेजे गये प्रतिनिधिमण्डल के पास कोई भी समझौता करने की अधिकारिक शक्ति ही नहीं थी और न ही फ़्रांस और ब्रिटेन सोवियत यूनियन के साथ आपसी सैन्य सहयोग की धारा को जोड़ने के लिए तैयार थे। निष्कर्ष के तौर पर 20 अगस्त, 1939 को बातचीत टूट गयी।

सोवियत-जर्मन समझौता

जर्मनी अप्रैल, 1939 में सोवियत यूनियन के समक्ष "एक-दूसरे पर हमला न करने का समझौता" करने की पेशकश कर चुका था, लेकिन सोवियत यूनियन ने इसको ठुकरा दिया था। 29 जुलाई, 1939 को सोवियत यूनियन ने ब्रिटेन और फ़्रांस की बातचीत की आड़ तले समय गुज़ारने की नीति की अलोचना की और फिर अगस्त, 1939 के मध्य तक यह साफ़ हो गया था कि ब्रिटेन, फ़्रांस और सोवियत यूनियन के बीच समझौते के लिए बातचीत सिरे नहीं चढ़ेगी। बिल्कुल इसी समय ही जर्मनी ने सोवियत यूनियन के आगे एक बार फिर से "हमला न करने का समझौता" करने का प्रस्ताव रखा और 23 अगस्त को सोवियत-जर्मन समझौते पर हस्ताक्षर हो गये। इस प्रस्ताव को मानना सोवियत यूनियन के लिए ज़रूरी हो गया था, क्योंकि ब्रिटेन और फ़्रांस कोई समझौता करने के लिए राजी नहीं थे। वास्तव में ब्रिटेन और फ़्रांस ने ऐसी किसी हालत के बारे में सोचा तक नहीं था। उनके अन्दाज़े यही थे कि पोलैण्ड पर हमला करने के बाद नाजी सोवियत यूनियन पर हमला करने के लिए बढ़ेंगे लेकिन सोवियत-जर्मन समझौता उन पर आसमानी बिजली की तरह गिरा और स्तालिन के इस कूटनीतिक दाव ने साम्राज्यवादियों को अचम्भित कर दिया, उनके सभी सपने धरे-धराये रह गये।

पूँजीपतियों के भाड़े के कलमघसीट यह लिखते नहीं थकते कि सोवियत यूनियन ने नाजी जर्मनी के साथ समझौता किया, लेकिन यह नहीं बताते कि सोवियत यूनियन ने जर्मनी से समझौता किन हालात में किया। यह नहीं बताते कि सोवियत यूनियन ने ब्रिटेन और फ़्रांस के साथ हिटलर-विरोधी मोर्चा बनाने की हरसम्भव कोशिश की, लेकिन ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री नेविल चौम्बरलेन और फ़्रांस के प्रधानमन्त्री दालादियर ने सोवियत यूनियन की ऐसी कोशिशों को नाकाम कर दिया। यह नहीं बताते कि सोवियत यूनियन के साथ बातचीत चलाने के लिए ब्रिटेन और फ़्रांस जाली प्रतिनिधिमण्डल भेजते थे, जबकि यही नेता हिटलर के साथ समझौते के लिए खुद जर्मनी जाते थे। भाड़े के कलमघसीट ब्रिटेन और फ़्रांस की तरफ़ से हिटलर की की गयी तरफ़दारी और 1933-1940 तक के समय में फ़्रांस और ब्रिटेन की तरफ़ से किये गये धोखे और कुकर्मों के बारे में नहीं बताते जिनके चलते यूरोप के कितने ही देश और क्षेत्र नाजियों के क़ब्ज़े में चले गये। चाहे ये कलमघसीट जितना मर्जी शोर मचायें लेकिन इतिहास के घटनाक्रम ने यह साबित कर दिया कि सोवियत-जर्मन समझौता होने से सोवियत यूनियन को बहुत लाभ हुआ। पहला, अब उसको उस समय एक ही मोर्चे मतलब पूर्व में सिर्फ़ जापान से निपटना था जिसको उन्होंने ख़ूब अच्छी तरह हराया; दूसरा, नाजियों के ख़िलाफ़ तैयारी के लिए सोवियत यूनियन को अहम दो सालों का समय मिल गया; तीसरा, एस्टोनिया, लातविया और लिथुआनिया जो प्रथम विश्वयुद्ध से पहले रूस का अंग थे, को सोवियत गणराजों के तौर पर शामिल करके लेनिनग्राद तक जर्मनी की पहुँच को कुछ कठिन कर दिया; चौथा, घरेलू जंग के समय पोलैण्ड के द्वारा क़ब्ज़ा किये रूसी क्षेत्र को वापस लेने का मौक़ा मिल गया जिसके कारण नाजी सेना को काफ़ी बड़े फ़्रण्ट पर हमला करना पड़ना था; पाँचवाँ और सबसे अहम, इस समझौते के साथ लड़ाई में ब्रिटेन और फ़्रांस की तरफ़ से निष्पक्षता रखने की चाल फुस्स हो गयी क्योंकि अब लड़ाई जर्मनी के पश्चिम के मोर्चे से शुरू हुई और साम्राज्यवादियों को मजबूर होकर सोवियत यूनियन से समझौता करना पड़ा और सोवियत यूनियन धुरी शक्तियों के ख़िलाफ़ अकेला पड़ जाने से बच गया, चाहे ब्रिटेन-अमेरिका (फ़्रांस पर जर्मनी का क़ब्ज़ा हो गया था) ने सिर्फ़ लफ़्ज़ी लड़ाई लड़ी और पश्चिम की तरफ़ से मोर्चा 1944 में खोला जब हिटलर की हार तय हो चुकी थी! लेकिन फिर भी इससे इतना ज़रूर हो गया कि साम्राजयवादी सोवियत यूनियन के ख़िलाफ़ हिटलर की मदद करने के योग्य न रहे। इस तरह जिस समझौते के लिए स्तालिन को बदनाम किया जाता है, उसके लिए तो स्तालिन को दाद देनी बनती है। लेकिन साम्राज्यवादियों को इसका सदा दुख रहा है, ज़ाहिर है ऐसा होगा ही।

पोलैण्ड पर जर्मन हमला और पोलैण्ड का बँटवारा

पूँजीपतियों के "विचारकों" की तरफ़ से यह प्रचार किया जाता है कि हिटलर और स्तालिन ने अगस्त, 1939 में हुए सोवियत-जर्मनी समझौते के अधीन गुप्त धाराएँ दर्ज करके पोलैण्ड को पहले ही बाँट लिया था और दोनों ने मिलकर पोलैण्ड पर हमला किया जिसके कारण विश्वयुद्ध शुरू हुआ, लेकिन यह "महान खोजी विचार" भी झूठ से सिवा कुछ नहीं थे। पोलैण्ड पर हमलों का समूचा घटनाक्रम इस बात को साफ़ करता है। नाजी जर्मनी ने 1 सितम्बर, 1939 को पोलैण्ड पर हमला किया। नाजियों ने 15 लाख की संख्या वाली विशाल सेना, 2500 टैंकों और 2000 बमबार जहाज़ों से पोलैण्ड के ऊपर दो तरफ़ से हमला किया। ब्रिटेन और फ़्रांस का पोलैण्ड से आपसी सहायता का समझौता था। ब्रिटेन और फ़्रांस को इतनी बदनामी मिल चुकी थी कि अब उनको मजबूरी में हिटलर के ख़िलाफ़ युद्ध का ऐलान करना पड़ा, लेकिन यह सिर्फ़ ऐलान ही था। सितम्बर, 1939 और मई, 1940 की अवधि के दौरान असल में फ़्रांस और ब्रिटेन ने हिटलर के ख़िलाफ़ एक गोली भी नहीं चलायी। इतिहास में इस घृणित काम को "नक़ली युद्ध" कहा जाता है, यह युद्ध की कार्यवाहियों के बिना "युद्ध" था। फ़्रांस ने सरकारी ऐलान किया, "कल या अधिक से अधिक परसों तक फ़्रांस और ब्रिटेन के बमबार जहाज़ जर्मनी पर सख़्त हमला करेंगे और पोलैण्ड में भी जर्मन सेना पर हमला होगा।" लेकिन यह न होना था, न हुआ। हिटलर को इसका पहले ही पता था, "उन्होंने हमारे विरुद्ध हमलों का ऐलान किया है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वह हमारे ख़िलाफ़ लड़ेंगे।" 6 सितम्बर, 1939 को पोलैण्ड की सरकार देश छोड़कर रोमानिया दौड़ गयी और पोलैण्ड का अन्तरराष्ट्रीय क़ानूनों के अनुसार एक देश के तौर पर वजूद ख़त्म हो गया, जर्मन नाजी पोलैण्ड में खुला खेल खेल रहे थे। फ़्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका ने अगर मदद देनी थी तो उन्होंने जर्मनी के पश्चिमी मोर्चे पर हमला क्यों नहीं किया? सैन्य मदद का समझौता होने के बावजूद पोलैण्ड की मदद न करना, क्या हिटलर के साथ सीधी मिलीभगत नहीं थी? पूँजीपतियों के दलाल यह सवाल कभी नहीं पूछते, आख़िर पूछें भी कौन सा मुँह लेकर।

सोवियत यूनियन ने पोलैण्ड के इलाक़ों में अपनी सेना 17 सितम्बर, 1939 को भेजी। पोलैण्ड की सरकार उस समय फ़ैसलाकून तौर पर हौसला पस्त हो चुकी थी और पोलैण्ड का इलाक़ा एक लावारिस क्षेत्र बन चुका था जिस कारण जर्मन नाजी सीधा सोवियत यूनियन की हद तक पहुँच सकते थे। इसको रोकने के लिए सोवियत यूनियन के पास नाजियों की पेशक़दमी रोकने के सिवा अन्य कोई रास्ता नहीं था। दूसरा, सोवियत यूनियन ने पोलैण्ड के पश्चिमी युक्रेन और बेलोरूस के वही क्षेत्र अपने क़ब्ज़े में किये जो पहले विश्वयुद्ध और अक्तूबर क्रान्ति के बाद छिड़ी रूसी घरेलू जंग के दौरान सोवियत यूनियन की कमज़ोर हालत के चलते रीगा समझौते के अन्तर्गत पोलैण्ड ने हथिया लिये थे। तीसरा, पोलैण्ड पर हमले के बाद नाजियों ने वहाँ तबाही मचा रखी थी और आम लोगों का क़त्लेआम किया जा रहा था। सोवियत यूनियन के इस क़दम से हिटलर की पूर्व की तरफ़ से पेशक़दमी अगले दो सालों के लिए रुक गयी। साथ ही 1.3 करोड़ आम लोग जिनमें 10 लाख यहूदी थे, नाजियों के जुल्मों से बच रहे। और तो और, उस समय किसी यूरोपीय देश ने, समेत ब्रिटेन और फ़्रांस के और लीग ऑफ़ नेशनज़ ने भी सोवियत यूनियन की इस कार्रवाई को पोलैण्ड पर हमला नहीं कहा। वास्तव में हिटलर और स्तालिन के द्वारा गुप्त समझौते के अन्तर्गत पोलैण्ड को बाँट लेने की कहानी शीत युद्ध के दौरान साम्राजयवादीओं के और कई साम्यवादी-विरोधी प्रोपेगैण्डा झूठों में से एक है जिसकी जुगाली पश्चिमी देशों के नेता और बुद्धिजीवी सचेतन तौर पर करते हैं और भारत के बहुत से बुद्धिजीवी अपनी अनपढ़ता के कारण करते हैं।

दूसरे विश्वयुद्ध के असली कारण

वास्तव में यह सारा झूठा प्रचार एक तरफ़ तो समाजवाद को बदनाम करने के लिए, कामगार लोगों के नेताओं, नायकों को बदनाम करने के लिए होता है जिससे लोगों को भ्रमित किया जा सके। ऐसा करना उनके लिए आज के संकट के दौर में और भी ज़रूरी हो जाता है। दूसरा, यूरोपीय देशों के हुक्मरान हिटलर के उभार और विश्वयुद्ध होने में अपनी भूमिका को और अपने लोगों से की गयी ग़द्दारियों को छिपाना चाहते हैं। तीसरा, वह दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान हिटलर की पराजय की असली वजह यानी सोवियत यूनियन के कामगार लोगों की तरफ़ से समाजवाद के झण्डे के नीचे किये गये बेमिसाल संघर्ष को अँधेरे में रखना चाहते हैं क्योंकि यह हासिल दुनियाभर के कामगार लोगों को पूँजीवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष में प्रेरणा देता है। चौथा और अहम कारण यह है कि पूँजीपतियों के बौद्धिक चाकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि दूसरा विश्वयुद्ध और लड़ाइयाँ आम रूप में, पूँजीवादी व्यवस्था की देन नहीं बल्कि कुछेक व्यक्तियों की सनक से होती हैं लेकिन इस झूठ को विज्ञान कब का रद्द कर चुका है।

युद्धों का असली कारण साम्राज्यवादी देशों की आपसी होड़ है जो पूँजीवाद के रहते कभी ख़त्म नहीं हो सकती, इसलिए पूँजीवाद के रहते युद्ध भी ख़त्म नहीं हो सकते। पूँजीवादी देश अपना माल बेचने के लिए मण्डियों और कच्चे माल के स्रोतों पर क़ब्ज़ा करने के लिए लगातार एक-दूसरे से उलझते रहते हैं। किसी समय कुछ देश या कोई एक देश ऊपर होता, लेकिन कुछ समय बाद कोई दूसरा देश तेज़ विकास करता हुआ आगे निकल जाता है। फिर यह आगे निकला देश पुराने चौधरी से अपना हिस्सा छीनता है जो पुराना चौधरी देने को तैयार नहीं होता, निष्कर्ष के तौर पर इस झगड़े का हल युद्ध के द्वारा किया जाता है। पहले विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी की हार हुई और कुछ समय के लिए जर्मनी पीछे रह गया लेकिन एक दशक तक पैरों पर खड़ा होकर जर्मनी के पूँजीपति फिर से ब्रिटेन, फ़्रांस और अमेरिका को टक्कर देने लगे। जर्मनी तेज़ विकास कर रहा था, लेकिन उसके लिए मण्डियों और कच्चे माल के स्रोत उतने नहीं थे जितने फ़्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका ने हथिया रखे थे। जर्मनी ने "सूरज के नीचे" अपने लिए और ज़्यादा जगह की माँग की। दूसरी तरफ़ सोवियत यूनियन के कामगार लोगों का राज साम्राजयवादीओं को चुभ रहा था और उनके लिए एक स्थायी ख़तरा बना हुआ था। ब्रिटेन, फ़्रांस और अमेरिका ने नाजियों को शह देकर एक तीर से दो शिकार करने चाहे - एक तो वह नाजियों को सोवियत यूनियन पर हमला करने और समाजवाद को ढहढेरी करने के लिए इस्तेमाल करना चाहते थे और दूसरा इससे उनके हित सुरक्षित रहने थे क्योंकि पूर्वी यूरोप और सोवियत यूनियन पर क़ब्ज़े से जर्मनी के पूँजीपतियों को एक बड़ी मण्डी और कच्चे माल का स्रोत मिल जाना था और उनकी अपनी बस्तियाँ सुरक्षित रहती। इस तरह दूसरा विश्वयुद्ध पूँजीवादी व्यवस्था के आपसी विरोध में से फूटा, बिल्कुल यही बात पूँजीपतियों के लिए पचा पाना मुश्किल है।

कुछ समय से भारत के फासीवादी गिरोह ने इतिहास की किताबें जलाने की मुहिम चला रखी है क्योंकि इतिहास उनके कुकर्मों को दिन की रोशनी में ला फेंकता है। लेकिन इतिहास से यह डर विश्वभर के समूचे पूँजीपतियों के लिए और पूँजीपतियों के टुकड़खोरों और कामगार लोगों के प्रत्येक ग़द्दारों के लिए साझा है। दूसरे विश्वयुद्ध और इसके साथ जुड़े घटनाक्रम के बारे में किया जाता झूठा प्रोपेगैण्डा इस बात का सबूत है।

– डा. अमृतपाल

मार्क्सवादी पार्टी बनाने के लिए लेनिन की योजना और मार्क्सवादी पार्टी का सैद्धान्तिक आधार।

('सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास' के बेहद महत्वपूर्ण और प्रासंगिक अंश)

मार्क्सवादी पार्टी बनाने के लिए लेनिन की योजना 'अर्थवादियों' का अवसरवाद। लेनिन की योजना के लिए 'इस्क्रा' का संघर्ष। लेनिन की पुस्तक 'क्या करें'–मार्क्सवादी पार्टी का सैद्धान्तिक आधार।

बावजूद इस बात कि रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी की पहली कांग्रेस 1898 में हो चुकी थी और उसने पार्टी बनने का ऐलान कर दिया था, अभी कोई सचमुच की पार्टी नहीं बनी थी। न कोई पार्टी कार्यक्रम था और न पार्टी के नियम थे। पहली कांग्रेस में जो पार्टी की केन्द्रीय समिति चुनी गयी थी, वह गिरफ़्तार कर ली गयी थी और किसी ने उसकी जगह नहीं ली थी, क्योंकि जगह लेने वाला कोई था ही नहीं। इससे भी खराब यह था कि पहली कांग्रेस के बाद पार्टी में विचारधारा की उलझन और संगठन की एकता की कमी और भी बढ़ गयी।

1884-94 के साल, नरोदवाद पर विजय के साल थे और सामाजिक-जनवादी पार्टी बनाने के लिए सैद्धान्तिक तैयारी के साल थे। 1894-98 के सालों में कोशिश की गयी, भले ही यह नाकाम कोशिश थी, कि अलग-थलग मार्क्सवादी संगठनों को सामाजिक-जनवादी पार्टी में मिलाकर एक किया जाये। 1898 के बाद ही जो वक़्त आया, वह ऐसा था जिसमें पार्टी के भीतर विचारधारा और संगठन-सम्बन्धी उलझनें और बढ़ गयीं। नरोदवाद पर मार्क्सवादियों ने जो जीत हासिल की और मज़दूर वर्ग ने जो क्रान्तिकारी काम किये, जिनसे साबित हुआ कि मार्क्सवादी सही थे, इनसे मार्क्सवाद के लिए क्रान्तिकारी नौजवानों में हमदर्दी पैदा हुई। मार्क्सवाद एक फ़ैशन हो गया। इसका नतीजा यह हुआ कि झुण्ड के झुण्ड क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी मार्क्सवादी संगठनों में आ पहुँचे। ये सिद्धान्त में कमजोर थे और राजनीतिक संगठन में अनुभवहीन थे। इनके दिमाग़ में मार्क्सवाद की एक अस्पष्ट और ज़्यादातर ग़लत धारणा थी, जिसे उन्होंने 'क़ानूनी मार्क्सवादियों' की अवसरवादी रचनाओं से पाया था। अख़बारों में इस तरह की रचनाएँ भरी होती थीं। नतीजा यह कि मार्क्सवादी संगठनों का सैद्धान्तिक और राजनीतिक स्तर और नीचा हुआ। इनके अन्दर 'क़ानूनी मार्क्सवाद' की अवसरवादी प्रवृत्तियाँ घर कर गयीं। उनमें सैद्धान्तिक उलझन, राजनीतिक ढुलमुलपन और संगठन की अराजकता बढ़ गयी।

मज़दूर आन्दोलन के उठते हुए ज्वार और क्रान्ति के स्पष्टत: नज़दीक आने की यह माँग थी कि मज़दूर वर्ग की एक संयुक्त और सुकेन्द्रित पार्टी हो, जो क्रान्तिकारी आन्दोलन का नेतृत्व कर सके। लेकिन स्थानीय पार्टी संगठन, स्थानीय कमेटियाँ, स्थानीय गुट और मण्डल ऐसी बुरी हालत में थे और उनकी संगठन-सम्बन्धी फूट और सैद्धान्तिक झगड़े ऐसे गम्भीर थे कि इस तरह की पार्टी का निर्माण करना बहुत बड़ी कठिनाई का काम था।

कठिनाई इसी में नहीं थी कि जार सरकार के बर्बर दमन का सामना करते हुए पार्टी बनानी थी। जार सरकार जब-तब संगठनों के सबसे अच्छे कार्यकर्ता छीन लेती थी और उन्हें निर्वासन, जेल और कठिन मेहनत की सजाएँ देती थी। कठिनाई इस बात में भी थी कि स्थानीय कमेटियों और उनके सदस्यों की एक बड़ी तादाद अपनी स्थानीय, छोटी-मोटी अमली कार्रवाई छोड़कर और किसी चीज से सरोकार नहीं रखती थी। पार्टी के अन्दर संगठन और विचारधारा की एकता नहीं होने से कितना नुक़सान हो रहा है, इसका अनुभव नहीं करती थी। पार्टी के भीतर जो फूट और सैद्धान्तिक उलझन फैली हुई थी, वह उसकी आदी हो गयी थी। वह समझती थी कि बिना एक संयुक्त केन्द्रित पार्टी के भी मज़े में काम चला सकती है।

अगर केन्द्रित पार्टी बनानी थी तो यह पिछड़ापन, आलस और स्थानीय संगठनों का यह संकीर्ण दृष्टिकोण ख़त्म करना था।

लेकिन, बात इतनी ही नहीं थी। पार्टी के अन्दर ऐसे लोगों का एक काफ़ी बड़ा दल था जिनके अपने अख़बार थे – रूस में रबोचाया मिस्ल (श्रमिक विचार) और विदेश में रबोचेयेदेलो (श्रमिक ध्येय)। ये सैद्धान्तिक आधार पर संगठन की एकता के अभाव और पार्टी के अन्दर सैद्धान्तिक उलझन को सही ठहराने की कोशिश करते थे। वे अकसर इस हालत की तारीफ़ भी करते थे। उनका दावा था कि मज़दूर वर्ग की संयुक्त और केन्द्रित राजनीतिक पार्टी बनाने की योजना ग़ैर-ज़रूरी और नक़ली थी।

ये थे 'अर्थवादी' और उनके अनुयायी।

सर्वहारा वर्ग की संयुक्त राजनीतिक पार्टी बने, इसके पहले 'अर्थवादियों' को हराना ज़रूरी था।

लेनिन ने यह काम और मज़दूर वर्ग की पार्टी के निर्माण का काम उठाया।

मज़दूर वर्ग की संयुक्त पार्टी बनाने का काम कैसे शुरू किया जाये, यह एक ऐसा सवाल था जिस पर अलग-अलग मत थे। कुछ लोगों का विचार था कि पार्टी की दूसरी कांग्रेस बुलाकर पार्टी-निर्माण का काम शुरू किया जाये। यह कांग्रेस स्थानीय संगठनों को एक करेगी और पार्टी बनायेगी। लेनिन इसका विरोध करते थे। उनका कहना था कि कांग्रेस बुलाने से पहले पार्टी के उद्देश्य और ध्येय साफ़ कर देना ज़रूरी है, यह मालूम करना ज़रूरी है कि किस तरह की पार्टी दरकार है, 'अर्थवादियों' से सैद्धान्तिक भेद करना ज़रूरी है, ईमानदारी से और साफ़-साफ़ पार्टी से यह कहना ज़रूरी है कि पार्टी के ध्येय और उद्देश्यों के बारे मे दो अलग मत मौजूद हैं – 'अर्थवादियों' का मत और क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों का मत, अख़बारों में क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद के विचारों के पक्ष में व्यापक आन्दोलन करना ज़रूरी है – जैसेकि 'अर्थवादी' अपने अख़बारों में अपने विचारों के पक्ष में आन्दोलन चला रहे थे, और इन दो धाराओं में से एक को जानबूझकर चुनने के लिए स्थानीय संगठनों को मौक़ा देना ज़रूरी है। यह शुरू का लाजिमी काम पूरा होने पर ही पार्टी कांग्रेस बुलाई जा सकती थी।

लेनिन ने साफ़-साफ़ कहा :

"इसके पहले कि हम मिलें और इसलिए कि हम मिलें, हमें मतभेद की स्पष्ट और निश्चित रेखाएँ खींच लेनी चाहिए।" (लेनिन, संक्षिप्त ग्रन्थावली, अंग्रेज़ी संस्करण, मास्को, 1947, खण्ड 1, पृ. 162)।

इसी के अनुसार, लेनिन का कहना था कि मज़दूर वर्ग की राजनीतिक पार्टी बनाने का काम अखिल रूसी पैमाने पर एक लड़ाकू राजनीतिक अख़बार स्थापित करके शुरू करना चाहिए। यह अख़बार क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद के विचारों के पक्ष में प्रचार और आन्दोलन करे। इस तरह के अख़बार की स्थापना पार्टी के निर्माण में पहला क़दम होगी।

अपने प्रसिद्ध लेख "शुरुआत कहाँ हो?" में, लेनिन ने पार्टी के निर्माण के लिए एक ठोस योजना की रूपरेखा पेश की थी। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'क्या करें?' में, लेनिन ने आगे चलकर इसी योजना को विस्तृत रूप दिया।

लेनिन ने इस लेख में कहा था :

"हमारी राय में हमारी कार्रवाई की शुरुआत अखिल रूसी पैमाने पर एक राजनीतिक अख़बार की स्थापना से होनी चाहिए। जिस तरह का संगठन हम चाहते हैं (यानी पार्टी का निर्माण – सं.), उसके लिए यह पहला अमली क़दम होगा। यही मुख्य सूत्र होगा जिसके सहारे हम संगठन को अटल रूप से विकसित कर सकेंगे, उसमें गम्भीरता पैदा कर सकेंगे और उसका प्रसार कर सकेंगे।... इसके बिना हम बाकायदा वह व्यापक प्रचार और आन्दोलन नहीं कर सकते, जो हमेशा सैद्धान्तिक रहे और जो आमतौर से सामाजिक-जनवादियों का मुख्य और हर समय का काम है। आजकल जबकि राजनीति में, समाजवाद के सवालों में जनता के भारी हिस्सों में दिलचस्पी पैदा हो गयी है, इस तरह का प्रचार और आन्दोलन ख़ासतौर से ज़रूरी काम है।" (लेनिन, संक्षिप्त ग्रन्थावली, रूसी संस्करण, खण्ड 4, पृष्ठ 110)।

लेनिन का विचार था कि इस तरह के अख़बार से सैद्धान्तिक रूप में ही पार्टी एक नहीं होगी बल्कि उसके भीतर स्थानीय संस्थाएँ भी संगठन की दृष्टि से एक होंगी। अख़बार के लिए जो एजेण्टों और संवाददाताओं का जाल बिछ जायेगा, उससे एक ऐसा ढाँचा खड़ा होगा जिसके चारों तरफ़ संगठन की दृष्टि से पार्टी का निर्माण हो सकेगा। ये एजेण्ट और संवाददाता स्थानीय संगठनों के प्रतिनिधि होंगे। लेनिन का कहना था, "अख़बार एक सामूहिक प्रचारक और एक सामूहिक आन्दोलनकर्ता ही नहीं है, बल्कि एक सामूहिक संगठनकर्ता भी है।"

लेनिन ने उसी लेख में लिखा था :

"एजेण्टों का यह जाल उस संगठन का ही ढाँचा बन जायेगा जिसकी हमें ज़रूरत है, यानी ऐसा ढाँचा जो इतना बड़ा हो कि सारे देश में फैला हो, इतना व्यापक और चौमुखी हो कि मेहनत का बँटवारा सख़्ती के साथ और विस्तार के साथ हो सके। यह ढाँचा काफ़ी परखा हुआ और तपाया हुआ हो ताकि सभी हालात में, सभी 'मोड़ों' पर और हर तरह की आकस्मिक परिस्थिति में अटल होकर अपना काम चलाता रहे। वह इतना लचीला हो कि बहुत ज़्यादा ताक़तवर दुश्मन से खुली लड़ाई लड़ने से बचे जबकि दुश्मन ने अपनी सारी ताक़त एक जगह बटोर ली हो और फिर भी, इस दुश्मन के भोंड़ेपन का फ़ायदा उठा सके और जहाँ भी और जिस समय भी उसे सबसे कम उम्मीद हो, हमला कर सके।" (उपर्युक्त, पृष्ठ 112)।

इस्क्रा ऐसा ही अख़बार बनने वाला था।

और सचमुच, कुल रूसी पैमाने पर इस्क्रा ऐसा ही राजनीतिक अख़बार बना कि जिसने पार्टी को विचारधारा और संगठन में मजबूत करने के लिए रास्ता तैयार किया।

जहाँ तक पार्टी की बनावट और ढाँचे का सम्बन्ध था, लेनिन का विचार था कि उसके दो हिस्से होने चाहिए – (अ) पार्टी के नियमित प्रमुख कार्यकर्ताओं का एक भीतरी व्यूह हो, जिसमें मुख्यकर पेशेवर क्रान्तिकारी हों, यानी पार्टी के ऐसे कार्यकर्ता जो पार्टी के काम के अलावा और सभी कामों से आज़ाद हों और जिनके पास कम से कम आवश्यक सैद्धान्तिक ज्ञान, राजनीतिक अनुभव हो, संगठन का अभ्यास और जार की पुलिस का मुकाबला करने तथा उससे बचने की कला हो; (आ) स्थानीय पार्टी-संगठनों का विशद जाल हो और पार्टी के सदस्यों की एक बड़ी तादाद हो, जिनकी तरफ़ लाखों मेहनतकशों की हमदर्दी हो और वे उनका समर्थन करते हों।

लेनिन का कहना था :

"मेरा दावा है कि 1) कोई भी क्रान्तिकारी आन्दोलन नेताओं के ऐसे टिकाऊ संगठन के बिना, जो लगातार कायम रहे, चल नहीं सकता; 2) संघर्ष में आम जनता जितना ही अपने-आप कूदती है... उतना ही इस संगठन की ज़रूरत बढ़ जाती है और संगठन उतना ही मजबूत होना चाहिए।... 3) इस तरह के संगठन में मुख्यत: ऐसे लोग होने चाहिए जो क्रान्तिकारी काम में पेशेवर तरीक़े से लगे हों। 4) स्वेच्छाचारी राज्य में इस तरह के संगठन की सदस्यता को जितना ही हम ऐसे लोगों के लिए सीमित रखेंगे जो पेशेवर तरीक़े से क्रान्तिकारी काम में लगे हों और जिन्हें पेशे के तौर पर राजनीतिक पुलिस का मुकाबला करने की कला में शिक्षा हो, उतना ही इस तरह के संगठन को मिटाना मुश्किल होगा; और 5) उतना ही मज़दूर वर्ग और समाज के दूसरे वर्गों के लोगों की तादाद, जो आन्दोलन में शामिल हो सकेंगे और उसमें सक्रिय भाग ले सकेंगे, बड़ी होगी।" (उपर्युक्त, पृष्ठ 456)

जहाँ तक बनायी जाने वाली पार्टी के स्वरूप का सम्बन्ध था और मज़दूर वर्ग के सम्बन्ध में उसकी भूमिका और उसके उद्देश्य और ध्येय का सवाल था, लेनिन का कहना था कि पार्टी मज़दूर वर्ग की हिरावल हो, वह मज़दूर आन्दोलन को रास्ता दिखाने वाली ताक़त हो जो सर्वहारा के वर्ग-संघर्षों का संचालन करे और उन्हें आपस में मिलाये। पार्टी का अन्तिम ध्येय पूँजीवाद का ख़ात्मा और समाजवाद कायम करना था। उसका फ़ौरी ध्येय जारशाही का ख़ात्मा और जनवादी व्यवस्था कायम करना था। चूँकि जारशाही को पहले ख़त्म किये बिना पूँजीवाद को ख़त्म करना नामुमकिन था, इसलिए उस वक़्त पार्टी का मुख्य काम मज़दूर वर्ग और तमाम जनता को जारशाही के ख़िलाफ़ संघर्ष के लिए उभारना था, उसके ख़िलाफ़ जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन को विकसित करना था और समाजवाद के रास्ते में उसे पहली और भारी अड़चन समझकर ख़त्म करना था।

(पेज 14 पर जारी)

मार्क्सवादी पार्टी बनाने के लिए लेनिन की योजना। 'अर्थवादियों' का अवसरवाद। लेनिन की योजना के लिए 'इस्क्रा' का संघर्ष। लेनिन की पुस्तक 'क्या करें'–मार्क्सवादी पार्टी का सैद्धान्तिक आधार।

(पेज 13 से आगे)

लेनिन ने लिखा था :

"इतिहास ने अब हमारे सामने एक फ़ौरी काम रखा है। किसी भी देश के सर्वहारा के सामने जो फ़ौरी काम हैं, उनमें यह सबसे क्रान्तिकारी है। इस काम के पूरा होने से, यूरोपीय प्रतिक्रियावाद ही नहीं, बल्कि (अब यह कहा जा सकता है कि) एशियाई प्रतिक्रियावाद के सबसे शक्तिशाली गढ़ के विनाश से रूसी सर्वहारा वर्ग अन्तरराष्ट्रीय क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग का हिरावल बन जायेगा।" (उपर्युक्त, पृ. 382)

और भी आगे :

"हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि आंशिक माँगों के लिए हुकूमत से संघर्ष, आंशिक रियायतों की जीत, दुश्मन से छोटी-मोटी मुठभेड़ ही है। यह बाहर की चौकियों पर छोटी टक्करें हैं, जबकि निपटारे की लड़ाई अभी होने को है। हमारे सामने अपनी भरपूर ताक़त से सुसज्जित दुश्मन का क़िला खड़ा हुआ है। वह हम पर गोला-बारूद बरसा रहा है और हमारे सबसे अच्छे सिपाहियों को भूने डाल रहा है। इस क़िले पर हमें क़ब्ज़ा करना है। हम उस पर क़ब्ज़ा कर लेंगे, बशर्ते कि हम जागते हुए सर्वहारा की सभी ताक़तों को रूसी क्रान्तिकारियों की ताक़तों के साथ एक ही पार्टी में मिलायें, ऐसी पार्टी जो रूस में जो कुछ जीवित और ईमानदार है, उसे अपनी तरफ़ खींचे। और तभी रूस के मज़दूर क्रान्तिकारी प्योत्र अलेक्सीयेव की महान भविष्यवाणी पूरी होगी : 'लाखों मेहनतकशों की सशक्त भुजा उठेगी और तानाशाही का क़िला, जिसकी हिफ़ाज़त सिपाहियों की संगीनें कर रही हैं, चूर-चूर हो जायेगा।"' (उपर्युक्त, पृष्ठ 59)।

निरंकुश जारशाही के रूस में मज़दूर वर्ग की पार्टी बनाने के लिए, लेनिन की योजना इस तरह की थी।

लेनिन की योजना के ख़िलाफ़ जिहाद बोलने में 'अर्थवादियों' ने ज़रा भी देर नहीं लगायी।

उनका दावा था कि जारशाही के ख़िलाफ़ आम राजनीतिक संघर्ष चलाने में सभी वर्गों को दिलचस्पी है, लेकिन मुख्यत: पूँजीपतियों को है। और इसलिए, मज़दूर वर्ग को उससे गहरी दिलचस्पी नहीं है क्योंकि मज़दूरों का मुख्य हित ज़्यादा तनख़्वाह, काम करने की बेहतर हालत वग़ैरह के लिए अपने मालिकों के ख़िलाफ़ आर्थिक लड़ाई लड़ने में है। इसलिए, सामाजिक-जनवादियों का पहला और मुख्य ध्येय जारशाही के ख़िलाफ़ राजनीतिक संघर्ष नहीं होना चाहिए, जारशाही का ख़ात्मा नहीं होना चाहिए बल्कि "मालिकों और सरकार के ख़िलाफ़ मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष" का संगठन होना चाहिए। सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष से उनका मतलब ज़्यादा अच्छे मिल-सम्बन्धी क़ानून बनवाने से था। 'अर्थवादियों' का कहना था कि इस तरह से "आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देना" मुमकिन होगा।

'अर्थवादियों' की अब यह हिम्मत नहीं थी कि मज़दूर वर्ग की राजनीतिक पार्टी की आवश्यकता का खुलकर विरोध करें। लेकिन वे समझते थे कि उसे मज़दूर आन्दोलन की निर्देशक शक्ति नहीं होना चाहिए, उसे मज़दूर वर्ग के अपने-आप चलने वाले आन्दोलन का संचालन करना तो दूर, उसमें दख़ल भी नहीं देना चाहिए, बल्कि उसे इस आन्दोलन के पीछे चलना चाहिए, उसका अध्ययन करना चाहिए और उससे सबक़ लेना चाहिए।

इसके अलावा, 'अर्थवादी' कहते थे कि मज़दूर आन्दोलन के सचेत लोगों की भूमिका, समाजवादी चेतना और समाजवादी सिद्धान्त की संगठन और संचालन-सम्बन्धी भूमिका नगण्य है, या करीब-करीब नगण्य है। उनका कहना था कि सामाजिक-जनवादियों को मज़दूरों के शऊर को समाजवादी चेतना के स्तर तक नहीं उठाना चाहिए, बल्कि उल्टा औसत दर्जे के मज़दूरों, मज़दूर वर्ग के ज़्यादा पिछड़े हुए हिस्सों के स्तर तक उन्हें ख़ुद झुकना चाहिए; उनसे अपनी पटरी बैठानी चाहिए। सामाजिक-जनवादियों को यह नहीं चाहिए कि मज़दूर वर्ग में समाजवादी चेतना पैदा करें, बल्कि तब तक इन्तज़ार करना चाहिए जब तक कि मज़दूर वर्ग का अपने-आप चलने वाला आन्दोलन समाजवादी चेतना के स्तर तक ख़ुद ही नहीं पहुँच जाये।

जहाँ तक पार्टी के संगठन के लिए लेनिन की योजना का सवाल था, 'अर्थवादी' उसे अपने-आप चलने वाले आन्दोलन के ख़िलाफ़ करीब-करीब हिंसा का ही काम समझते थे।

इस्क्रा के कॉलमों में और ख़ासतौर से अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'क्या करें?' में, लेनिन ने 'अर्थवादियों' के इस अवसरवादी दर्शन पर कसकर हमला किया और उसे निर्मूल कर दिया।

1. लेनिन ने दिखलाया कि जारशाही के ख़िलाफ़ आम राजनीतिक संघर्ष से मज़दूर वर्ग को हटाना और मालिकों और सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष तक उसका काम सीमित रखना, जबकि मालिक और सरकार दोनों बरकरार रहने दिये जायें, इसके मानी यह थे कि मज़दूरों को हमेशा के लिए गुलामी करने के लिए छोड़ दिया जाये। मालिकों और सरकार के ख़िलाफ़ मज़दूरों की आर्थिक लड़ाई पूँजीपतियों को अपनी श्रम-शक्ति बेचने में ज़्यादा अच्छी शर्तें पाने के लिए एक ट्रेड यूनियन लड़ाई थी। लेकिन मज़दूर पूँजीपतियों को अपनी श्रम-शक्ति बेचने में ज़्यादा अच्छी शर्तों के लिए ही नहीं लड़ना चाहते थे बल्कि उस पूँजीवादी व्यवस्था के ख़ात्मे के लिए भी लड़ना चाहते थे जो उन्हें पूँजीपतियों को अपनी श्रमशक्ति बेचने पर और शोषित होने पर मजबूर करती थी। लेकिन जब तक मज़दूर आन्दोलन के रास्ते को पूँजीवाद के रखवाले कुत्ते जार शासन ने रोक रखा था, तब तक मज़दूर पूँजीवाद के ख़िलाफ़ अपना संघर्ष, समाजवाद के लिए अपना संघर्ष पूरी तरह विकसित नहीं कर सकते थे। इसलिए, पार्टी और मज़दूर वर्ग का यह फ़ौरी काम था कि रास्ते से जारशाही को हटाया जाये और इस तरह समाजवाद के लिए रास्ता साफ़ किया जाये।

2. लेनिन ने दिखलाया कि मज़दूर आन्दोलन के अपने-आप चलने की तारीफ़ करना, इस बात से इनकार करना कि पार्टी को प्रमुख भूमिका अदा करनी है, सिर्फ़ घटनाओं का हिसाब रखने तक उसकी भूमिका घटा देना, पिछलगुआपन (ख्वोस्तीवाद) का प्रचार करना था, पार्टी को अपने-आप चलने वाले घटना-क्रम की दुम बना देने का प्रचार करना था, उसे आन्दोलन में एक निष्क्रिय ताक़त बना देना था जो सिर्फ़ अपने-आप होने वाले घटना-क्रम को देखा भर करे और घटनाओं को अपने तरीक़े से होने दे। यह सब प्रचार करने का मतलब था – पार्टी के नाश के लिए काम करना, यानी मज़दूर वर्ग को बिना पार्टी के कर देना, यानी मज़दूर वर्ग को निहत्था छोड़ देना। लेकिन जारशाही जैसे दुश्मन के सामने, जो सिर से पैर तक हथियारों से लैस थी, और पूँजीपतियों जैसे दुश्मन के सामने, जो आधुनिक तरीक़े से संगठित थे और मजूदर वर्ग के ख़िलाफ़ अपना संघर्ष चलाने के लिए ख़ुद अपनी पार्टी बनाये हुए थे, मज़दूर वर्ग को निहत्था छोड़ने का मतलब था – उसके साथ ग़द्दारी करना।

3. लेनिन ने दिखलाया कि अपने-आप चलने वाले मज़दूर आन्दोलन की पूजा करना और चेतना के महत्त्व को कम और समाजवादी सिद्धान्त के महत्त्व को तुच्छ बताना, सबसे पहले मज़दूरों का अपमान करना था, जो चेतना की तरफ़ वैसे ही झुकते थे जैसे प्रकाश की तरफ़। इसके अलावा, उसे तुच्छ बताने का मतलब था – पार्टी की नज़र में सिद्धान्त की क़ीमत कम करना, यानी उस अस्त्र को ही तुच्छ बताना जिसकी मदद से पार्टी वर्तमान को समझ सकती थी और भविष्य को देख सकती थी। और तीसरे, चेतना को तुच्छ बताने का मतलब था – अवसरवाद के दलदल में पूरी तरह अटल रूप से फँस जाना।

लेनिन ने लिखा था :

"क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बिना कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं चल सकता।... लड़ाकू हिरावल का काम ऐसी ही पार्टी कर सकती है जो सबसे आगे बढ़े हुए सिद्धान्त से अपना रास्ता पहचानती हो।" (लेनिन, संक्षिप्त ग्रन्थावली, अंग्रेज़ी संस्करण, मास्को, 1947, खण्ड 1, पृ. 163, 164)।

4. लेनिन ने दिखलाया कि 'अर्थवादी' यह कहकर कि अपने-आप चलने वाले मज़दूर आन्दोलन से समाजवादी विचारधारा पैदा हो सकती है, मज़दूर वर्ग को धोखा दे रहे थे। कारण यह कि समाजवादी विचारधारा अपने-आप चलने वाले आन्दोलन से नहीं पैदा होती, बल्कि विज्ञान से पैदा होती है। मज़दूर वर्ग में समाजवादी चेतना फैलाने की ज़रूरत से इनकार करके 'अर्थवादी' पूँजीवादी विचारधारा के लिए रास्ता साफ़ कर रहे थे। वे मज़दूर वर्ग में पूँजीवादी विचारधारा को पहुँचाने और फैलाने का काम आसान बना रहे थे। और इसलिए, वे मज़दूर आन्दोलन से समाजवाद को मिलाने के विचार को दफ़ना रहे थे और इस तरह पूँजीपतियों की मदद कर रहे थे।

लेनिन ने कहा था :

"मज़दूर आन्दोलन के अपने-आप चलने, स्वत:स्फूर्त होने की पूजा करने, 'सचेत लोगों' की भूमिका और सामाजिक-जनवाद की पार्टी की भूमिका को कम करने की सभी कोशिशों का मतलब है – मज़दूरों में पूँजीवादी विचारधारा के असर को मज़बूत करना, और यह सवाल बिल्कुल दरकिनार है कि वह ऐसा करना चाहते हैं या नहीं।" (उपर्युक्त, पृ. 173)।

और आगे :

"हमारे सामने एक ही रास्ता है : या तो पूँजीवादी विचारधारा या समाजवादी विचारधारा। बीच का रास्ता नहीं है।... इसलिए समाजवादी विचारधारा को किसी तरह कम करके बताना, उससे ज़रा भी हटना, पूँजीवादी विचारधारा को मज़बूत करना है।" (उपर्युक्त, पृ. 174, 175)।

'अर्थवादियों' की इन तमाम भूलों का सार देते हुए, लेनिन इस नतीजे पर पहुँचे थे कि वे लोग पूँजीवाद से मज़दूरों को मुक्त करने के लिए सामाजिक क्रान्ति की पार्टी नहीं चाहते थे, बल्कि 'सामाजिक सुधार' की पार्टी चाहते थे। 'सामाजिक सुधार' की पार्टी चाहने का मतलब था पूँजीवादी हुकूमत को बने रहने देना। इसलिए, 'अर्थवादी' सुधारवादी थे, जो सर्वहारा वर्ग के बुनियादी हितों के साथ ग़द्दारी कर रहे थे।

5. अन्त में, लेनिन ने दिखलाया कि रूस में 'अर्थवाद' आकस्मिक घटना नहीं है; 'अर्थवादी' मज़दूर वर्ग पर पूँजीवादी असर डालने का साधन हैं। पश्चिमी यूरोप की सामाजिक-जनवादी पार्टियों में भी उनके साथी थे। अवसरवादी बर्न्सटाइन के अनुयायी, 'संशोधनवादी' उनके साथी थे। पश्चिमी यूरोप में सामाजिक-जनवादी पार्टियों के अन्दर अवसरवादी प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ रही थी। मार्क्स की "आलोचना करने की आज़ादी" के नाम पर, ये लोग मार्क्सवादी सिद्धान्तों में संशोधन करने की माँग करते थे। (इसलिए 'संशोधनवादी' शब्द बना)। ये लोग माँग करते थे कि क्रान्ति त्याग दी जाये, समाजवाद और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को त्याग दिया जाये। लेनिन ने दिखलाया कि रूसी 'अर्थवादी' भी क्रान्तिकारी संघर्ष को छोड़ने की, समाजवाद और सर्वहारा अधिनायकत्व त्यागने की वैसी ही नीति पर चल रहे थे।

'क्या करें?' नाम की पुस्तक में, लेनिन ने इस तरह के सैद्धान्तिक उसूलों का विवेचन किया था।

इस किताब के व्यापक रूप से पढ़े जाने से नतीजा यह हुआ कि रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी की दूसरी कांग्रेस तक, यानी प्रकाशित होने के सालभर के भीतर ही (मार्च, 1902 में वह प्रकाशित हुई थी), 'अर्थवाद' के उसूलों की एक कड़वी यादभर रह गयी। पार्टी के ज़्यादातर सदस्य 'अर्थवादी' कहलाना अपमान की बात समझने लगे।

'अर्थवाद' की यह करारी सैद्धान्तिक हार थी; यह अवसरवाद, पिछलग्गुआपन और अपने-आप चलने वाले आन्दोलन की पूजा की करारी हार थी।

लेकिन, लेनिन की पुस्तक 'क्या करें?' का महत्त्व यहीं ख़त्म नहीं हो जाता।

इस प्रसिद्ध पुस्तक का महत्त्व इस बात में है कि इसमें लेनिन ने :

1. मार्क्सवादी विचारों के इतिहास में पहली बार, अवसरवाद की सैद्धान्तिक जड़ों को उघारकर रख दिया और यह दिखलाया कि ये जड़ें सबसे अधिक अपने-आप चलने वाले मज़दूर आन्दोलन की पूजा करने और मज़दूर आन्दोलन में समाजवादी चेतना कम करने में हैं;

2. अपने-आप चलने वाले मज़दूर आन्दोलन में सिद्धान्त के, चेतना के और पार्टी के भारी महत्त्व को दिखाया कि वे क्रान्तिकारी तब्दीली करने वाली और रास्ता दिखाने वाली ताक़त हैं;

3. इस बुनियादी मार्क्सवादी सूत्र को बहुत सुन्दर ढंग से पुष्ट किया कि मार्क्सवादी पार्टी समाजवाद से मज़दूर आन्दोलन का मेल है;

4. मार्क्सवादी पार्टी की सैद्धान्तिक बुनियाद की बहुत सुन्दर व्याख्या की।

'क्या करें?' नाम की पुस्तक में सिद्धान्त के जो विचार रखे गये थे, वे आगे चलकर बोल्शेविक पार्टी की विचारधारा की बुनियाद बने।

मैं दण्ड की माँग करता हूँ

– पाब्लो नेरूदा

अपने उन शहीदों के नाम पर
उन लोगों के लिए
मैं दण्ड की माँग करता हूँ
जिन्होंने हमारी पितृभूमि को
रक्तप्लावित कर दिया है
उन लोगों के लिए
मैं दण्ड की माँग करता हूँ
जिनके निर्देश पर
यह अन्याय, यह ख़ून हुआ
उसके लिए मैं दण्ड की माँग करता हूँ
विश्वासघाती
जो इन शवों पर खड़े होने की हिम्मत रखता है
उसके लिए मेरी माँग है
उसे दण्ड दो, उसे दण्ड दो
जिन लोगों ने हत्यारों को माफ़ कर दिया है
उनके लिए मैं दण्ड की माँग करता हूँ
मैं चारों ओर हाथ मलते
घूमता नहीं रह सकता
मैं उन्हें भूल नहीं सकता
मैं उनके ख़ून से सने हाथों को
छू नहीं सकता
मैं उनके लिए दण्ड चाहता हूँ
मैं नहीं चाहता कि उन्हें यहाँ-वहाँ
राजदूत बनाकर भेज दिया जाये
मैं यह भी नहीं चाहता
कि वे लोग यहीं छुपे रहें
मैं चाहता हूँ
उन पर मुक़दमा चले
यहीं, इस खुले आसमान के नीचे
ठीक यहीं
मैं उन्हें दण्डित होते देखना चाहता हूँ

●

मैं उन शहीदों से बात करना चाहता हूँ
लगता है वे लोग यहीं हैं
मेरे भाइयो! संघर्ष जारी रहेगा
अपनी लड़ाई हम जारी रखेंगे
कल-कारख़ानों में, खेत-खलिहानों में
गली-गली में यह लड़ाई जारी रहेगी
नमक/शोरा के खदानों में
यह लड़ाई जारी रहेगी
यह लड़ाई जारी रहेगी
वृक्षहीन समतल भूमि पर
ताँबे की भट्ठियों में धधक उठेगी
लाल-हरी लपटें
सुबह-सुबह कोयले का काला धुआँ
भरता जा रहा है जिन कोठरियों में
वहीं खींची जायेगी
युद्ध की रेखा
और हमारे हृदयों में
ये झण्डे जो तुम्हारे ख़ून के गवाह हैं
जब तक इनकी संख्या
कई गुना बढ़ नहीं जाती
सिर्फ़ लहराते ही नहीं रहें
और तेज़ी से फड़फड़ाने लगे
अक्षय वसन्त के इन्तज़ार में
लाखों-हज़ार पत्तों की तरह

●

हज़ारों साल तक
इस सड़क पर बिछे पत्थरों से
तुम्हारे क़दमों की आवाज़
और आहटें आती रहेंगी
पत्थरों पर पड़े तुम्हारे ख़ून के दाग़
अब किसी तरह मिटाये नहीं जा सकेंगे
हज़ारों कण्ठों की अजस्र ध्वनि
इस सहमे हुए मौन को तोड़ देगी
तुम्हारी मौत को भूला नहीं जा सकेगा कभी भी
घण्टे की गूँजती हुई आवाज़
उसकी याद दिलाती रहेगी
बरसात में दीवारों की तरह नोनी पकड़ लेगी
नोनी लगी टूटी-फूटी दीवारों के
काँप उठने के बावजूद
शहीदों तुम्हारे नामों की ज्वाला
कोई बुझा नहीं पायेगा
अत्याचारों के हज़ारों हाथ
जीवन्त आशाओं का गला नहीं दबा सकते
वह दिन आ रहा है
हम सारी दुनिया के लोग एकजुट हैं
हम अनेक लोग
आगे बढ़ते जा रहे हैं
सहने के ये आख़िरी दिन हैं
बहुत भारी लड़ाई लड़ के
फ़ैसले का वह एक दिन छीन लिया गया है
और तुम
ओ मेरे वंचित भाइयो!
ख़ामोशी से निकलकर तुम्हारी आवाज़ उठेगी
आज़ादी की असंख्य आवाज़ों से मिलने
मनुष्य की आशाएँ और आकांक्षाएँ
दिग्विजयी विद्युत-छटाओं से मिलने
निकल पड़ी हैं

('सड़कों, चौराहों पर मौत और लाशें' कविता का एक अंश)

एक दिवालिये की रिपोर्ट

अगर मुझे अपनी रोटी छोड़नी पड़े
अगर मुझे अपनी कमीज़ और अपना बिछौना बेचना पड़े
अगर मुझे पत्थर तोड़ने का काम करना पड़े
या कुली का
या मेहतर का
अगर मुझे तुम्हारा गोदाम साफ़ करना पड़े
या गोबर से खाना ढूँढ़ना पड़े
या भूखे रहना पड़े
और ख़ामोश
इंसानियत के दुश्मन
मैं समझौता नहीं करूँगा
आख़िर तक मैं लड़ूँगा

जाओ मेरी ज़मीन का
आख़िरी टुकड़ा भी चुरा लो
जेल की कोठरी में
मेरी जवानी झोंक दो
मेरी विरासत लूट लो
मेरी किताबें जला दो
मेरी थाली में अपने कुत्तों को खिलाओ
जाओ मेरे गाँव की छतों पर
अपने आतंक के जाल फैला दो
इंसानियत के दुश्मन
मैं समझौता नहीं करूँगा
और आख़िर तक मैं लड़ूँगा
अगर तुम मेरी आँखों में
सारी मोमबत्तियाँ पिघला दो
अगर तुम मेरे होंठों के
हर बोसे को जमा दो
अगर तुम मेरे माहौल को
गालियों से भर दो
या मेरे दुखों को दबा दो
मेरे साथ जालसाजी करो
मेरे बच्चों के चेहरे से हँसी उड़ा दो
और मेरी आँखों में अपमान की पीड़ा भर दो
इंसानियत के दुश्मन
मैं समझौता नहीं करूँगा
और आख़िर तक मैं लड़ूँगा
मैं लड़ूँगा

इंसानियत के दुश्मन
बन्दरगाहों पर सिगनल उठा दिये गये हैं
वातावरण में संकेत ही संकेत हैं
मैं उन्हें हर जगह देख रहा हूँ
क्षितिज पर नौकाओं के पाल नज़र आ रहे हैं
वे आ रहे हैं
विरोध करते हुए
यूलिसिस की नौकाएँ लौट रही हैं
खोये हुए लोगों के समुद्र से
सूर्योदय हो रहा है
आदमी आगे बढ़ रहा है
और इसके लिए
मैं क़सम खाता हूँ
मैं समझौता नहीं करूँगा
और आख़िर तक मैं लड़ूँगा
मैं लड़ूँगा

– समी अल कासिम

(फ़लस्तीनी कवि)

दोनों कविताओं का अनुवाद : रामकृष्ण पाण्डेय

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2014-2016
प्रेषित डाकघर : आर.एम.एस. चारबाग, लखनऊ
प्रेषित तिथि : दिनांक 20 प्रत्येक माह

चिकित्सा में खुली मुनाफ़ाख़ोरी को बढ़ावा, जनता के स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़

मोदी सरकार के एक साल में सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं में कटौती पर एक नज़र

मई 2015 में दुनिया के 179 देशों के सर्वेक्षण के आधार पर एक सूची प्रकाशित की गयी जिसे वैश्विक स्तर पर मातृत्व के लिए अनुकूल परिस्थितियों के आधार पर बनाया गया है। इस सूची में भारत पिछले साल के 137वें स्थान से 3 पायदान नीचे खिसककर 140वें स्थान पर पहुँच गया है। यूँ तो 137वाँ स्थान हो या 140वाँ, दोनों में कोई ख़ास अन्तर नहीं है, लेकिन यह विकास के खोखले नारों के पीछे की हक़ीक़त बयान कर रही है कि देश में आम जनता के जीवन स्तर में सुधार होने की जगह परिस्थितियाँ और भी बदतर हो रही हैं। भारत अब माँ बनने के लिए सुविधाओं के हिसाब से जिम्बाब्वे, बांग्लादेश और इराक़ से भी पीछे हो चुका है। यह आँकड़ा अच्छे दिनों और विकास का वादा कर जनता का समर्थन हासिल करने वाली मोदी सरकार का एक साल पूरा होने से थोड़ा पहले आया है जो यह दर्शाता है कि भविष्य में इस मुनाफ़ा केन्द्रित व्यवस्था के रहते "विकास" की हर एक नींव रखी जाने के साथ जनता के लिए और भी बुरे दिन आने वाले हैं।

इसी रिपोर्ट में सर्वेक्षण के आधार पर बताया गया है कि भारत के शहरी इलाक़ों में रहने वाली ग़रीब आबादी में बच्चों की मौत हो जाने की सम्भावना उसी शहर में रहने वाले अमीरों के बच्चों की तुलना में 3.2 गुना (320 प्रतिशत) अधिक होती है (स्रोत-1)। बच्चों के ज़िन्दा रहने की इस असमानता का मुख्य कारण ग़रीब परिवारों में माताओं और बच्चों का कुपोषित होना, रहने की गन्दी परिस्थितियाँ, स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध न होना है तथा महँगी स्वास्थ्य सुविधाएँ है (स्रोत-2)। हक़ीक़त यह है कि भारत में पाँच वर्ष की उम्र पूरी होने से पहले ही मरने वाले बच्चों की संख्या पूरी दुनिया की कुल संख्या का 22 फ़ीसदी है (स्रोत-3)। अप्रैल 2015 में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में 5 साल से कम उम्र के आधे से अधिक बच्चे कुपोषित हैं, जिनमें विटामिन और मिनिरल की कमी है (स्रोत-4)।

देश के अलग-अलग शहरों की बस्तियों और गाँवों में रहने वाली ग़रीब आबादी के बीच कुपोषण और बीमारियों के कारण होने वाली मौतों का मुख्य कारण यहाँ रहने वाले लोगों की जीवन और काम की परिस्थितियाँ होता है। यहाँ रहने वाली बड़ी ग़रीब आबादी फ़ैक्टरियों में, दिहाड़ी पर या ठेला-रेड़ी लगाकर अपनी आजीविका कमाते हैं और इनके बदले में इन्हें जो मज़दूरी मिलती है वह इतनी कम होती है कि शहर में एक परिवार किसी तरह भुखमरी का शिकार हुए बिना ज़िन्दा रह सकता है। समाज के लिए हर वस्तु को अपने श्रम से बनाने वाली मेहनतकश जनता को वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था एक माल से अधिक और कुछ नहीं समझती, जिसे सिर्फ़ ज़िन्दा रहने लायक मज़दूरी दे दी जाती है जिससे कि वह हर दिन 12-16 घण्टों तक जानवरों की तरह कारख़ानों में, दिहाड़ी पर काम करता रहे। इसके अलावा सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं की पहुँच इन मज़दूर बस्तियों और गाँवों में रहने वाले ग़रीबों तक कभी नहीं होती। देश में आम जनता को मिलने वाली स्वास्थ्य सुविधाओं का स्तर भी लगातार नीचे गिर रहा है।

लेकिन स्वास्थ्य सुविधाओं को बढ़ाने की जगह पर वर्तमान मोदी सरकार ने सार्वजनिक स्वास्थ्य पर ख़र्च किये जाने वाले ख़र्च में भी 2014 की तुलना में 29 फ़ीसदी कटौती कर दी। 2013-14 के बजट में सरकार ने 29,165 करोड़ रुपये स्वास्थ्य सुविधाओं के लिए आवँटित किये थे जिन्हें 2014-15 के बजट में घटाकर 20,431 करोड़ कर दिया गया है (स्रोत-5)। पहले ही भारत अपनी कुल जीडीपी का सिर्फ़ 1.3 फ़ीसदी हिस्सा सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं पर ख़र्च करता है जो ब्रिक्स (ब्राज़ील, रूस, भारत, चीन, दक्षिण-अफ़्रीका) देशों की तुलना में सबसे कम है, भारत के बाद चीन का नम्बर है जोकि अपनी जीडीपी का 5.1 फ़ीसदी स्वास्थ्य पर ख़र्च कर रहा है, जबकि दक्षिण-अफ़्रीका सबसे अधिक, 8.3 फ़ीसदी, ख़र्च करता है। डॉक्टरों और अस्पतालों की संख्या, बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाओं के ढाँचे पर किये जाने वाले ख़र्च के मामले में भी भारत ब्रिक्स देशों की तुलना में काफ़ी पीछे है। भारत में स्वास्थ्य पर जनता द्वारा ख़र्च किये जाने वाले कुल ख़र्च में से 30 फ़ीसदी सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं के हिस्से से और बाक़ी 69.5 प्रतिशत लोगों की जेब से ख़र्च होता है। भारत में 10,000 की आबादी पर डॉक्टरों की संख्या 7 है जो ब्रिक्स देशों की तुलना में सबसे कम है। वहीं ब्रिक्स देशों की तुलना में मलेरिया जैसी आम बीमारियों के मामले में भारत में कई गुना अधिक रिपोर्ट होती हैं जिनसे बड़ी संख्या में मरीजों की मौत हो जाती है। भारत में हर साल मलेरिया के 10,67,824 मामले रिपोर्ट होते हैं जबकि चीन और दक्षिण-अफ़्रीका में यह संख्या 5,000 से भी कम है (स्रोत-6)। भारत में कैंसर जैसी बीमारी से हर दिन 1,300 लोगों की मौत हो जाती है, और यह संख्या 2012 से 2014 के बीच 6 प्रतिशत बढ़ चुकी है (स्रोत-7)।

पिछड़ी सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं के कारण हमारे देश में ग़रीब आबादी अपनी आमदनी का बड़ा हिस्सा, लगभग 70 प्रतिशत, चिकित्सा पर ख़र्च करने के लिए मजबूर है, जबकि श्रीलंका जैसे दूसरे एशियाई देशों में यह मात्रा सिर्फ़ 30-40 प्रतिशत है। इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ पॉपुलेशन साइंस और विश्व स्वास्थ्य संगठन के एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में कम आय वाले लगभग 40 प्रतिशत परिवारों को चिकित्सा के लिए पैसे उधार लेने पड़ते हैं, और 16 फ़ीसदी परिवार चिकित्सा की वजह से ग़रीबी रेखा के नीचे धकेल दिये जाते हैं (स्रोत-8)।

यह वर्तमान स्वास्थ्य परिस्थितियों के अनुरूप एक शर्मनाक परिस्थिति है और यह प्रकट करता है कि भारत की पूँजीवादी सरकार किस स्तर तक कॉरपोरेट-परस्त हो सकती है। सार्वजनिक-स्वास्थ्य-सुविधाओं में कटौती के साथ-साथ बेशर्मी की हद यह है कि सरकार ने फ़ार्मा कम्पनियों को 509 बुनियादी दवाओं के दाम बढ़ाने की छूट दे दी है, जिनमें डायबिटीज़, हेपेटाइटस-बी/सी कैंसर, फंगल-संक्रमण जैसी बीमारियों की दवाओं के दाम 3.84 प्रतिशत तक बढ़ जायेंगे (स्रोत-9)। इसके अलावा वैश्विक स्तर पर देखें तो कैंसर जैसी जानलेवा बीमारियों के इलाज का ख़र्च काफ़ी अधिक है जो आम जनता की पहुँच से काफ़ी दूर है। इसका मुख्य कारण है कि कोई भी कॉरपोरेट-परस्त पूँजीवादी सरकारें इनके रिसर्च पर ख़र्च नहीं करना चाहती क्योंकि इससे मुनाफ़ा नहीं होगा, और जो निजी कम्पनियाँ इनके शोध में लगी हैं, वे मुनाफ़ा कमाने के लिए दवाओं की क़ीमत मनमाने ढंग से तय करती हैं।

वैसे तो मुनाफ़ा केन्द्रित व्यवस्था में सरकारों से पूँजी-परस्ती की इन नीतियों के अलावा और कोई उम्मीद भी नहीं की जा सकती, लेकिन इस पूरी पूँजीवादी व्यवस्था का ढाँचा कितना असंवेदनशील और हत्यारा हो सकता है, यह इस बात से समझा जा सकता है कि स्वास्थ्य-सुविधा जैसी बुनियादी ज़रूरत भी बाज़ार मे ज़्यादा-से-ज़्यादा दाम में बेचकर मुनाफ़े की हवस पूरी करने में इस्तेमाल की जा रही है (स्रोत-10)। वर्तमान सरकार का एक साल पूरा हो चुका है और जनता के सामने इसकी कलई भी खुल चुकी है कि जनता की सुविधाओं में कटौती करके पूँजीपतियों के अच्छे दिन और विकास किया जा रहा है। कुछ अर्थशास्त्री, नेता और पत्रकार यह कुतर्क दे रहे हैं कि सरकार क्या करे, पैसों की कमी है इसलिए वर्तमान सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के लिए आवँटित धन में कटौती करनी पड़ रही है। ऐसे लोगों को शायद यह नहीं पता कि पैसों की कमी कहकर सार्वजनिक ख़र्चों में कटौती करने वाली सरकारें, चाहे वह कांग्रेस हो या भाजपा, हज़ारों करोड़ रुपये बेल-आउट, टेक्स-छूट या लोन में पूँजीपतियों को दान दे चुकी हैं और आज भी दे रही हैं।

अब फ़रवरी 2015 के टाइम्स ऑफ़ इण्डिया में छपी एक रिपोर्ट पर नज़र डालें, जो निजी अस्पतालों के डॉक्टरों से बातचीत पर आधारित है। इसके अनुसार निजी अस्पतालों में सिर्फ़ उन्हीं डॉक्टरों को काम पर रखा जाता है जो ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने में मदद करते हों और मरीजों से भिन्न-भिन्न प्रकार के टेस्ट और दवाओं के माध्यम से ज़्यादा से ज़्यादा पैसे वसूल कर सकते हों। यदि एक डॉक्टर मरीज के इलाज में 1.5 लाख रुपया लेता है तो उसे 15 हज़ार रुपये दिये जाते हैं और बाक़ी 1.35 लाख अस्पताल के मुनाफ़े में चले जाते हैं। इस रिपोर्ट में "चिन्ता" व्यक्त करते हुए यह भी कहा गया है कि निजी अस्पतालों की कॉरपोरेट लॉबी लगातार सरकार पर Clinical Establishments Act of 2010 को हटाकर चिकित्सा क्षेत्र से सभी अधिनियम समाप्त करने और इसे मुनाफ़े की खुली मण्डी बनाने का दबाव बना रही है, और सरकार इन बदलावों के पक्ष में है (स्रोत-11)। वैसे इस रिपोर्ट को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि लेखक को यह अनुमान ही नहीं है कि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में चिकित्सा सुविधाएँ बाज़ार में बिकने वाले अन्य मालों (commodities) की तरह ही पूँजीपतियों के लिए मुनाफ़ा कमाने का एक ज़रिया हैं, जिसके लिए बड़े-बड़े अस्पताल और फ़ार्मा कम्पनियाँ खुलेआम मरीजों को लूटते हैं और सच्चाई यह है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य-सुविधाओं में सरकार द्वारा की जाने वाली कटौतियों का सीधा फ़ायदा निजी अस्पतालों और फ़ार्मा कम्पनियों के मालिकों को ही होगा।

16 मई को जनता के वोटों से चुनकर आयी नयी मोदी सरकार का एक साल पूरा हो गया और देश के करोड़ों ग़रीब, बेरोज़गार लोगों ने अपने बदहाल हालात थोड़े बेहतर होने की जिस उम्मीद में नयी राजनीतिक पार्टी भाजपा को वोट किया था, उसमें कोई परिवर्तन नज़र नहीं आ रहा है। उल्टे पहले से चलायी जा रहीं कल्याणकारी योजनाओं को भी पूँजीवादी "विकास" को बढ़ावा देने के नाम पर बन्द किया जा रहा है। सार्वजनिक-स्वास्थ्य सुविधाओं में कटौती करके और फ़ार्मा कम्पनियों को दवाओं के दाम बढ़ाने की छूट देकर सरकार कॉरपोरेट मालिकों की जेबें भरने की पूरी तैयारी में लगी है।

– राजकुमार

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006